

राजकुमार अनिल

अमर कथायें

राजकुमार अनिल

ADARSH BALAKON KI AMAR KATHAYEN

By

Rajkumar Anil

मूल्य : 30.00 रुपये / प्रथम संस्करण : 1988

प्रकाशक : प्रेम प्रकाशन मंदिर, 3012, बल्लीमारान दिल्ली-6

मुद्रक : मानस प्रिंटिंग प्रेस, 9 4753 पुराना सीलमपुर, दिल्ली-31

आदर्श बालकों की अमर कथायें राजकुमार अनिल

भारत में केवल महापुरुष तथा महान् नारियाँ ही नहीं हुईं वरन् ऐसे बालक भी हुए जिन्होंने अपने जीवन में कई सद्‌गुणों व आदर्शों को उतारा और उस पर अटल रहकर महान् व पूज्य पद को प्राप्त किया ही, अमरता भी प्राप्त की। उन आदर्श बालकों की प्रेरणास्पद अमर कथायें इस संकलन में संकलित है, जो पाठकों के मन को आलोकित करने की पर्याप्त क्षमता रखती हैं।

क्रम

प्रह्लाद

दैत्यराज हिरण्यकश्यप के अपार पराक्रम से तीनों लोक काँपने लगे। देवता तक उससे भय खाते थे। एक बार हिरण्यकश्यव के बड़े भाई हिरण्याक्ष ने देवताओं को युद्ध में परास्त कर धरती को पाताल में कैद कर लिया। तब भगवान विष्णु ने बराह का रूप धारण कर हिरण्याक्ष का वध कर धरती का उद्धार किया। भगवान विष्णु द्वारा अपने बड़े भाई का वध किये जाने से हिरण्यकश्यप क्षुब्ध हो उठा। उसने विष्णु को अपना सबसे बड़ा दुश्मन माना।

देवलोक पर अपना प्रभुत्त्व स्थायी रखने और अमघ्व प्राप्त कर विष्णु से टक्कर लेने के उद्देश्य से हिरण्यकश्यप अपनी स्वर्ण-मंडित मनोहर राजधानी छोड़ वन को चला गया और ब्रह्माजी की घोर तपस्या में लीन हो गया।

इधर उसके राजधानी में न होने का समाचार पा देवताओं ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया।

असुर बड़ी वीरता से लड़े पर अंततः पराजित हो गये। हिरण्यकश्यप की पत्नी उन समय गर्भवती थी। इसके बावजूद देवराज इंद्र ने उस पर कोई दया न दिखाते हुए उसे कैद कर लिया।

दैत्यराज महिषी की शोक का अंत न था। देवराज इंद्र उसे इन्द्र इन्द्रलोक ले जाने की तैयारी कर रहे थे कि उसी समय नारद जी वहां पहुँच गये। उन्होंने देव-राज इन्द्र से आग्रह किया कि वे दैत्यराज महिषी को मुक्त कर दें।

इस पर इंद्र बोले, 'गर्भस्थ सन्तान अगर पुत्र हुआ तो जन्म लेने के बाद देवताओं को बड़ा त्रास देगा, क्योंकि वह हिण्यकश्यप का पुत्र होगा।'

नारद जी ने इंद्र को समझाते हुए कहा, 'गर्भस्थ बालक किसी प्रकार बैर में नही लाया जा सकता। वह निर्दोष है। इसके अलावा, गर्भ में जो बालक है वह भगवद्भक्त है। तुम उसे मार नहीं सकते।'

नारद जी के ऐसा कहने पर इंद्र ने असुर राज महिषी को छोड़ दिया। उसे दुःखी देखकर नारद जी का हृदय पसीज उठा। वह असुर राज महिषी को अपने यहाँ ले गये और बड़ी तत्परता से उसकी देख-रेख करने लगे। वह प्रायः उसे ज्ञानोपदेश दिया करते।

उनके इस आदेश-उपदेश का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर भी पड़ा ।

ब्रह्माजी से हिरण्यकश्यप ने वर माँगा, 'मुझे न घर न बाहर, न पृथ्वी पर न आकाश में, न अस्त्र से न शस्त्र से, न देवता न मनुष्य, न दिन में न रात मे मार सके ।' ब्रह्माजी ने 'तथास्तु' कहा ।

वर पाकर हिरण्यकश्यप मृत्यु के प्रति और निर्भीक होकर वापस लौटा और देवताओं को युद्ध में हराकर अपना खोया हुआ राज्य वापस प्राप्त कर लिया । इस बीच उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म देकर उसका नाम प्रह्लाद रख दिया था । वापस आकर अपना खोया राज्य व वैभव पुनः प्राप्त होते ही नारद जी ने असुरराज महिषी को उसके पास भेज दिया ।

प्रह्लाद पिता के पास रहकर बड़ा होने लगा । इसके साथ ही दैत्यराज हिरण्यकश्यप का प्रताप भी दिनों दिन बढ़ता जा रहा था ।

धीरे-धीरे प्रह्लाद अध्ययन हेतु गुरु-गृह जाने वाली अवस्था में पहुँचा । हिरण्यकश्यप ने बड़े स्नेह से प्रह्लाद को पढने के लिए भेजा । असुरों के आचार्य शुक्राचार्य के दो पुत्र षंडामर्क वहीं रहते थे । प्रह्लाद को उन्हीं के पास पढ़ने के लिए भेजा गया था ।

बालक प्रह्लाद हर तरह गुरुओं की आज्ञा मान कर चलते थे। पर यह अपना है और वह पराया, ऐसा भेद-बुद्धि वाला पाठ प्रह्लाद को पसंद न आया।

एक दिन दैत्यराज हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को गोद में बिठाकर पूछा, 'बेटा! तुम किस वस्तु को संसार भर में श्रेष्ठ समझते हो, जरा बताओ तो!'

प्रह्लाद ने विनयपूर्वक पिता से कहा, 'पिताजी, मेरे विचार से भगवान विष्णु सारे जगत् में सबसे बढ़-कर हैं।'

अपने शत्रु की यह प्रशंसा अपने पुत्र के ही मुख से सुन हिरण्यकश्यप जल-भुन गया। उसने सोचा, वैष्णवों का कहीं साथ हो गया है जिससे बालक पर उनकी दुर्बुद्धि का प्रभाव पड़ गया है। उसने षंडाभर्क को प्रह्लाद पर अच्छी तरह निगरानी रखने की आज्ञा दी।

आचार्य बालक प्रह्लाद को भेद-बुद्धि पैदा करने वाले शास्त्र फिर और भी अधिक लगन से पढ़ाने लगे, पर प्रह्लाद पर उनका कोई प्रभाव नहीं पडा। तब आचार्य ने उसे खूब पीटा। इसका भी कुछ फल न हुआ। जब किसी तरह प्रह्लाद की भगवद्-भक्ति वे न छुडा सके तब प्रह्लाद को लेकर फिर दैत्यराज के

पास गये।

हिरण्यकश्यप ने पुत्र को फिर गोद में बिठाया और सस्नेह पूछा, 'वत्स, इतने दिनों तक तुमने गुरु-गृह में क्या शिक्षा प्राप्त की ?'

प्रह्लाद ने नम्रतापूर्वक कहा, 'पिताजी, मेरी समझ में ईश्वर-भक्ति सबसे बड़ी शिक्षा है।'

यह सुन हिरण्यकश्यप गुरु-पुत्रों पर बहुत बिगड़ा। तब उन्होंने कहा, 'प्रह्लाद को इस बारे में हमने शिक्षा नहीं दी। यह इसकी स्वाभाविक बुद्धि है।'

हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को गोद से जमीन पर फेंक दिया और अपने असुर सिपाहियों को बुलाकर आज्ञा दी, 'फौरन इसका खात्मा करो। जिसने भाई हिरण्याक्ष को मारा, यह उसी कुल शत्रु की भक्ति करता है।'

दैत्यराज की आज्ञा पा 'मारो-मारो' कहते असुर-गण प्रह्लाद के शरीर को भाले से छेदने लगे। किंतु प्रह्लाद का चित ईश्वर में लीन था। उसके शरीर को न तो किसी तरह की चोट पहुँची और न ही उसे किसी तरह की पीड़ा हुई।

जिन लोगों ने प्रह्लाद पर वार किये थे वे भी इस अलौकिक चमत्कार से प्रभावित हो भगवान् विष्णु

की आराधना करने लगे। बिजली की तरह यह बात पूरे राज्य में कौंध गई।

इसके पहले हिरण्यकश्यप ने हर जगह ईश्वर की भक्ति-आराधना, पूजा-पाठ पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। जब भगवद्-भक्तों ने यह समाचार सुना तो वे बड़े उत्साहित हुये। फिर भक्ति-आराधना, पूजा-पाठ की व्यवस्था होने लगी।

हिरण्यकश्यप ने जब यह सुना तो उसने सोचा कि प्रह्लाद को समाप्त किये बगैर विष्णु-भक्ति खत्म नहीं हो सकती। अतः उसने प्रह्लान की छाती पर पत्थर बाँधकर उसे अथाह जल में फिकवा दिया। पर भगवत्कृपा से पत्थर भी पानी के ऊपर तैरने लगा।

प्रह्लाद की प्रसिद्धि बढ़ती जा रही थी और हिरण्यकश्यप कुढ़ता जा रहा था। ज्यों-ज्यों उसका क्रोध बढ़ता जा रहा था, त्यों-त्यों उसकी बुद्धि घटती जा रही थी। एक दिन उसने अपने असुर सिपाहियों को आज्ञा दी, 'प्रह्लाद को पहाड़ से नीचे फेक दो तो वह जरूर मर जायेगा।'

अनुचरों ने ऐसा ही किया। पर नीचे खड़े हुये भगवान ने अपने भक्त को गोद में ले लिया। प्रह्लाद को कहीं जरा-सी भी चोट नहीं आई।

क्रमशः प्रह्लाद के अनुयायी बढ़ने लगे और राज्य में पूजा-पाठ फिर आरंभ हो गया। हिरण्यकश्यप क्रोध से बेचैन हो उठा। उसकी समझ में न आ रहा था कि प्रह्लाद को खत्म करने का वह कौन-सा उपाय करे।

हिरण्यकश्यप की बेचैनी ताड उसकी बहन होलिका उसके पास आई और बोली, 'मुझे अग्निदेव का वर प्राप्त है, मैं आग में नहीं जलती। आप एक चिता बनवाइये। मै प्रह्लाद को गोद में लेकर उस पर बैठ जाऊँ तो आप उसमें आग लगवा दीजिये। वह अवश्य जलकर मर जायेगा।'

ऐसा ही किया गया। चिता बनाई गई। होलिका प्रह्लाद को लेकर उसमें बैठी तो आग लगा दी गई। पर भक्त-वत्सल भगवान अग्नि में भी विराजमान थे। अतः प्रह्लाद को जरा भी आँच नही आई और होलिका जलकर भस्म हो गई। लोगों ने चकित होकर देखा—राख की ढेर पर हाथ जोड़े, आँखें बंद किये प्रह्लाद प्रभु-स्तुति में लीन है।

इससे प्रह्लाद के सभी सहपाठी बालक उसकी ईश्वर-आस्था के प्रति उत्साहित होकर उसके अनुयायी हो गये। गुरुओं ने दैत्यराज हिरण्यकश्यप को

बताया कि अब दैत्यवंश के अन्य बालक भी प्रह्लाद की तरह विष्णु के उपासक हो गये है। क्रोधावेश में अंधे हुये हिरण्यकश्यप का रहा-सहा ज्ञान भी जाता रहा।

उसने प्रह्लाद को बुलाया और दहाड़कर पूछा, 'तू जिस विष्णु को पूजता है, तेरा वह ईश्वर कहाँ रहता है।'

प्रह्लाद ने विनयपूर्वक कहा, 'वह तो सभी जगह है।'

क्रोध से काँपते हिरण्यकश्यप ने पूछा, 'क्या इस क्यों खंभे में भी है?'

'हाँ, इस खंभे में भी वह विराजमान हैं।'

तब हिरण्यकश्यप ने खभे पर अपनी लात का प्रहार कर कहा, 'अगर वह इस खंभे में है तो बाहर नहीं आता?'

तभी वह खंभा एक भीषण ध्वनि के साथ फट पड़ा और भगवान विष्णु नरसिंह का रूप धारण कर उसमें से निकले। हिरण्यकश्यप को उठाकर वे राज-महल की देहरी पर जा बैठे और उसे अपनी जाँघो पर पटक कर अपने नाखूनो से उसका पेट मार

ान विष्णु न नर थे न देवभा वरन् नरसिं



। उस समय न दिन था, न रात थी व

. वे न तो घर पर थे न बाहर, वरन् दे

पर थे। उन्होंने हिरण्यकश्यप को न धरती पर न आकाश पर वरन् अपनी जाँघ पर रखकर, न अस्त्र से न शस्त्र से वरन् अपने नाखूनों से उसका पेट फाड़कर मारा था।

भगवत्-स्तुति में लीन भक्त प्रह्लाद को आशीर्वाद दे भगवार पुनः अपने लोक को चले गये।

ध्रुव

स्वयंभुव मनु ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न होकर नर-सृष्टि के जनक हैं। उनकी पत्नी का नाम था—शतरूपा देवी। उनके दो पुत्र हुये—प्रियव्रत एवं उत्तानपाद। ये भगवान वासुदेव के अंश से पैदा हुए थे। बाद में दोनों राजा होकर पृथ्वी का पालन करने लगे।

महाराजा उत्तानपाद ने दो विवाह किये। एक पत्नी का नाम सुनीति और दूसरी का सुरुचि था। सुनीति के पुत्र का नाम था ध्रुव जबकि सुरुचि का पुत्र उत्तम था।

राजा उत्तानपाद सुरुचि को अधिक चाहते थे। या यूं कहना ज्यादा ठीक होगा कि सुरुचि ने महाराज को अपने वश में कर रखा था।

एक दिन महाराज उत्तानपाद सुरुचि के साथ राज-सिहासन पर बैठे थे। उनकी गोद में सुरुचि का पुत्र उत्तम खेल रहा था। पास ही फर्श पर ध्रुव भी खेल रहा था। उत्तम पर पिता का वात्सल्य देख

उनका सामीप्य पाने की लालसा से ध्रुव भी पिता की गोद में बैठने हेतु सिंहासन पर चढ़ा।

तभी विमाता ने ध्रुव को धकेलकर नीचे गिरा दिया और कठोरता से बोली, 'ध्रुव, तू राजकुमार अवश्य है, पर मेरा पुत्र नहीं, इसलिये तू सिंहासन पर नहीं बैठ सकता। अगर तुझे सिंहासन पर बैठना हो तो जा, भगवान की तपस्या कर। भगवान को प्रसन्न कर, उनसे वर लेकर तू मेरे गर्भ से जन्म ले। तभी तू इस सिंहासन पर बैठ सकेगा।'

विमाता की कठोर बातों से बालक ध्रुव के कोमल हृदय को बड़ा आघात लगा। वह फूट-फूटकर रोने लगा और उसी समय वहाँ से हटकर अपनी माता के पास चला। बालक को रोता आता देख माता सुमति ने आगे बढ़कर उसे अपनी गोद में ले लिया और चुम-कार कर रोने का कारण पूछने लगी।

सुरुचि के अनुचित व्यवहार से खिन्न होकर उस समय वहाँ उपस्थित कुछ लोग सुनीति के पास आये और उनसे ध्रुव के निरादर का कारण बतलाया। सुन कर रानी सुनीति की आँखों में आँसू आ गये।

अवरुद्ध कंठ से सुनीति ने अपने पुत्र से कहा, 'बेटा, मैं बड़ी हतभागिनी हूँ। तुम्हारी विमाता ने ठीक

ही कहा है। तुम राजकुमार अवश्य हो, पर मेरे पुत्र हो। मुझे महाराज पत्नी स्वीकार करते हुये भी लज्जित होते हैं। बेटा, तुम्हारी विमाता ने ठीक ही कहा है कि यदि तुम्हें भाई उत्तम की तरह राजसिंहासन पर बैठने की इच्छा हो तो भगवान की तपस्या करो।'

इतना कहकर आसुओं से सिक्त पुत्र के कपोलों को बार-बार चूमकर रानी सुनीति ने उसे गोद से उतार दिया। ध्रुव के मन में भगवान को पाने की आकाक्षा प्रबल हो उठी। मन से तो वह एक तरह से भगवान के ही पास चले गये।

हर तरह से मन को संयत और कठोर बना वह पिता के राजमहल से बाहर निकला और वन की ओर चला। मार्ग में उसे नारदजी मिल गये। उन्होंने शोक-ताप को दूर करने वाले अपने पवित्र दाहिने हाथ से ध्रुव के मस्तक का स्पर्श किया और मन ही मन विचार करने लगे, 'क्षत्रियों का भी कितना अजीब स्वभाव है! ध्रुव अभी निरा बालक है, किन्तु अपमान को वह सहन न कर सका। इसके हृदय में सौतेली माता के दुर्वचन अंगारों की तरह दहक रहे हैं।'

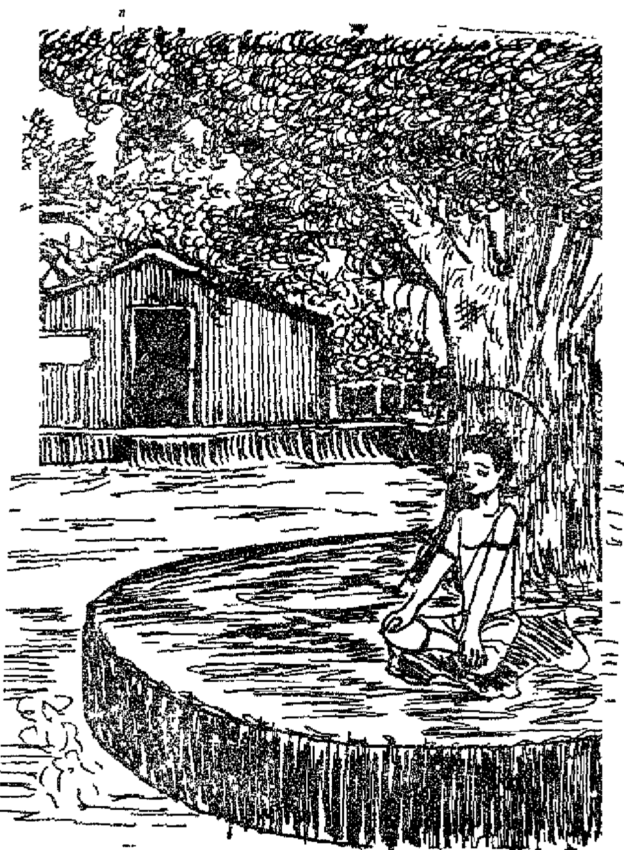
फिर उन्होंने प्रगट में ध्रुव से कहा, 'वत्स ध्रुव, अभी तुम बालक हो। इस अवस्था में तुम्हें मान-अपमान का विचार नहीं करना चाहिये। फिर तुम जिसके लिये जा रहे हो वह बड़ा कठिन कार्य है। मेरी सलाह है कि तुम यह हठ छोड़ कर वापस लौट जाओ।'

ध्रुव ने कहा, 'प्रभो, सुख-दु.ख पाकर मनुष्य उसे देख नहीं सकता, आप इसलिये मुझे लौटा रहे हैं ? मैं विमाता के कटु वचनों से बहुत ही पीड़ित हुआ हूँ अब इस फटे हृदय में शांति को कोई स्थान नहीं है। मैं लौट भी नहीं सकता। मैं वह स्थान पाना चाहता हूँ, जिस पर मेरे पितृ-पुरुष तक कभी पहुँच न सके हों। आप कृपा कर मुझे ऐसा उत्तम स्थान बता दें जो तीनों लोकों में सबसे ऊँचा पद हो।'

देवर्षि नारद बोले, वत्स, तुम्हारी माता ने जैसा कहा है तुम्हारे लिये इच्छानुसार अर्थ पाने की जगह वही है। तुम भक्ति-भाव से ईश्वर का भजन करो। यमुना तट पर मधुवन नामक जो वन है, भगवान का वहाँ सदैव वास है। तुम वहीं जाओ। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करें। मैं तुम्हें मंत्र देता हूँ। नियमपूर्वक केवल सात दिन इस मंत्र का पाठ करने पर मनुष्य देवताओं के दर्शन करता है।'

ौर नारद जी ने ध्रुव को ईश्वर-आराधना का
ाया।

वर्षि नारद से मंत्र ग्रहण कर, उन्हें प्रदक्षिणा



णाम कर ध्रुव उद्देश्य-सिद्धि के लिये चल पड
नियत स्थान पर पहुँचकर तपस्या करने लगा

वह हर तोसरे दिन कैथा और बेर खाता था । इस तरह एक महीना उसने गुजार दिया ।

दूसरे माह वह सूखे पत्ते और घास-फूस खाकर रहा । तीसरे माह में, नवे दिन सिर्फ पानी पीकर वह समाधि योग करता रहा । इसके बाद पंद्रहवें दिन सिर्फ वायु-भक्षण कर, श्वास रोककर ध्यान-योग द्वारा भगवान की साधना में लीन रहा । इस प्रकार चार माह बीत चुके थे ।

पाँचवें माह श्वास को भी जीतकर एक पैर पर खड़ा होकर वह स्थाणु की तरह रहने लगा । इस तरह ध्रुव की कठोर तपस्या से तीनों लोक डगमगाने लगे । ध्रुव जब एक पैर पर खड़ा होता था तो पृथ्वी उसके अँगूठे का दाब न सह सकती थी । देवता डर गये और भगवान की स्तुति करने लगे । भगवान विष्णु ने देवताओं को अभय दिया ।

ध्रुव की तपस्या सिद्ध हुई । उसके अपने अन्तर में भगवान विष्णु के दर्शन हुये । आँखें खोलीं तो सामने भी वही स्वरूप दिख पड़ा । तब हाथ जोड़कर भक्ति-भाव से वह भगवान की स्तुति करने लगा । उसकी स्तुति से प्रसन्न हो भगवान ने कहा, 'वत्स ध्रुव, तुम धन्य हो ! हे तपस्वि क्षत्रिय बालक, तुम्हारा कल्याण

हो। मैंने तुम्हें अमर-स्थान दिया। वहाँ से ग्रह-नक्षत्र आदि के चक्र संबद्ध हैं। पर वह स्थान तुम राज्य के भोग के बाद प्राप्त करोगे। तुम्हारे पिता तुम्हें राज्य देकर वन-गमन करेंगे। तुम तिरसठ हजार वर्ष तक राज्य करोगे, पर तुम्हारी इंद्रियां सदैव तुम्हारे वश में रहेंगी। तुम्हारा भाई उत्तम शिकार के लिये जायेगा और लापता हो जायेगा। तुम्हारी विमाता सुरुचि उसकी खोज के लिये निकलकर उसके ध्यान में पागल हो अंततः दावाग्नि में प्रवेश करेगी।'

यह कहकर भगवान वासुदेव गरुड़ पर चढ़कर आकाश में अंतर्ध्यान हो गये।

अपने इष्टदेव की आज्ञा को शिरोधार्य कर ध्रुव ने अपने पिता की राजधानी को लौटने का विचार किया।

राजा उत्तानपाद को दूत के जरिये समाचार मिला कि ध्रुव आ रहा है। वह बडी धूमधाम से उसके स्वागत की तैयारियां करने लगे। हाथी, घोड़े, रथ, पालकियाँ सजवाई, सेना साथ ली। एक पालकी पर रानी सुनीति और सुरुचि को बिठाया। शंख, दुदभि, वंशी-ध्वनि, वेद-पाठ आदि के मधुर स्वर गूंजने लगे। महाराज के रथ पर उत्तम भी था।

उपवन के पास ध्रुव को आता देखकर महाराज रथ पर से उतर पड़े और आगे बढ़कर बड़े प्रेम से पुत्र को गले लगाया। ध्रुव के हृदय में भगवान का वास था, अतः उससे भेंट कर महाराज को परम प्रसन्नता हुई। ध्रुव ने माता-पिता और विमाता को प्रणाम किया, उत्तम को गले लगाया। महारानी सुनीति की आँखों से आनन्द के आँसू बह चले। उन्होंने बड़े स्नेह से पुत्र का कोमल मुख चूमा। राज्य के लोग ध्रुव को पाकर बड़े प्रसन्न हुए। सब लोग आनन्द में डूबे हुए राज्य को लौटे।

भगवान वासुदेव के आदेशानुसार बाद में ध्रुव राजा हुए। दीर्घकाल तक प्रजाजनों का पालन और यज्ञादि का शासन किया। अंत में, समय आने पर, अपने ध्रुव लोक को जहाँ किसी दूसरे की स्थिति नहीं होती, प्रस्थान किया।

आरुणि

महर्षि आयोदधौम्य के तीन शिष्य बहुत प्रसिद्ध हैं—आरुणि, उपमन्यु और वेद। इनमें से आरुणि अपने गुरुदेव के सबसे प्रिय शिष्य थे। और सबसे पहले विद्या पाकर वही गुरु के समान दूसरा आश्रम बनाने में सफल हुए थे। आरुणि को गुरु की कृपा से सब वेद, शास्त्र, पुराण आदि बिना पढ़े ही आ गये थे।

सच बात तो यह है कि जो विद्या गुरुदेव की सेवा और कृपा से आती है, वही विद्या सफल होती है। उसी विद्या से जोवन का सुधार और दूसरों का भी भला होता है। जो विद्यागु रुदेव की सेवा के बगैर सिर्फ पुस्तकों को रट-घोंटकर प्राप्त की जाती है वह अहंकार को बढ़ा देती है। जीवन में उस विद्या का ठीक-ठाक उपयोग नहीं हो पाता। गुरुओं की अव-मानना कर और उनके बताये मार्ग का अनुसरण कर सिर्फ पद की प्राप्ति के लिये प्राप्त विद्या व्यवहार-शून्य होती है।

महर्षि आयोदधौम्य के आश्रम में बहुत से शिष्य थे। वे सब अपने गुरुदेव की हर तरह से बड़े प्रेम से सेवा किया करते थे।

एक दिन शाम के समय वर्षा होने लगी। वर्षा की ऋतु बीत चुकी थी। आगे भी वर्षा होगी या नहीं इसका कुछ ठीक ठिकाना नहीं था। वर्षा मूसलाधार हो रही थी।

महर्षि आयोदधौम्य ने सोचा कि कहीं अपने धान के खेत की मेंढ अधिक पानी भरने पर टूट जाये तो खेत में से सब पानी बह जायेगा। इसके बाद अगर वर्षा न हुई तो धान की फसल बिना पानी के मुरझा जायेगी। उन्होंने अपनी चिंता आश्रम के अपने शिष्यों पर प्रगट की और कहा, 'क्या ही अच्छा होता कि हममें से कोई जाकर देख आता कि कहीं खेतों में से पानी बाहर तो नहीं बह रहा है।'

सब ने गुरुजी की बात सुनी, पर किसी ने खेत पर जाने के लिये कोई उत्सुकता प्रगट नहीं की। नाहक कौन मूसलाधार बारिश अपने सर पर झेलकर कल को अपने स्वास्थ्य के लिये खतरा मोल ले। सबने चुप-चाप अपना सर झुका लिया।

तभी आरुणि सामने आया और बोला, 'गुरु जी, 'मैं खेतों को देखने जाता हूँ।'

: आरुणि गुरु के आज्ञा की प्रतीक्षा किये बं
लाधार वर्षा में आश्रम से बाहर निक



पर पहुँचकर आरुणि ने देखा कि धान
मेढ एक स्थान पर टूट गई है और वहाँ
:रा पानी बडी तेजी से बाहर निकल रहा :

आरुणि ने वहाँ मिट्टी रखकर मेंढ़ को बाँध देने का प्रयास किया। पानी वेग से निकल रहा था और वर्षा से मिट्टी गीली हो गई थी, इसलिये आरुणि जितनी मिट्टी मेढ़ बाँधने को रखता था उसे पानी की वेगवती धार बहा ले जाती थी। बहुत देर परिश्रम करके भी जब आरुणि मेंढ़ बाँध सकने में सफल न हो सका तो उस टूटी मेढ़ से लगकर वह स्वय लेट गया। उसके शरीर के व्यवधान से पानी का बहाव रुक गया।

सारी रात आरुणि पानी भरे खेत में मेंढ़ से सटा सोया पड़ा रहा। सर्दी से उसका सारा शरीर अकड़ गया, लेकिन गुरु देव के खेत का पानी न बहने पाये, इस विचार से न तो वह तनिक भी हिला और न उसने करवट बदली। शरीर में ठण्ड लगने से भयंकर पीड़ा होने लगी, पर उसने उफ् तक न किया।

सवेरा होने पर पूजन और हवन करके सब विद्यार्थी गुरुदेव को प्रणाम करते थे। महर्षि आयोद-धौम्य ने गौर किया कि उस दिन सवेरे आरुणि उन्हें प्रणाम करने नहीं आया। महर्षि ने अपने दूसरे शिष्यों से पूछा, 'आरुणि कहाँ है ?'

'कल शाम को आपने आरुणि को खेत की मेंढ़ बाँधने को भेजा था तब से वह लौट कर नहीं आया।'

सब शिष्यों ने बताया।

महर्षि उसी समय दूसरे शिष्यों को लेकर आरुणि को ढूँढने निकले। खेत पर जाकर उन्होंने आरुणि को आवाज दी। भीषण सर्दी खा जाने के कारण आरुणि से बोला तक न जाता था, पर फिर भी किसी प्रकार क्षीण स्वर में उसने गुरुजी की पुकार का उत्तर दिया।

महर्षि ने वहाँ पहुँचकर अपने उस आज्ञाकारी शिष्य को उठाकर हृदय से लगा लिया और आशीर्वाद दिया, 'पुत्र आरुणि, तुम्हें सब विद्यायें अपने आप आ जायें।'

गुरुदेव के आशीर्वाद से आगे चलकर आरुणि एक बहुत बड़ा विद्वान हो गया और गुरु-भक्ति का अनुपम आदर्श उपस्थित करने के कारण अमर हो गया।

अभिमन्यु

महाभारत का युद्ध चल रहा था। भीष्म पितामह शरशय्या पर गिर पड़े थे और द्रोणाचार्य कौरव-पक्ष के सेनापति हो गये थे। दुर्योधन बार-बार आचार्य से उलाहना देता हुआ कहता था, 'आप पाण्डवों का पक्षपात करते हैं। आप ऐसा न करें तो आपके लिए पाण्डवों को जीत लेना बहुत ही सरल है।'

बार-बार एक ही बात सुनते-सुनते आखिर आचार्य उत्तेजित हो उठे और दुर्योधन से कहा, 'अर्जुन के रहते पाण्डव-पक्ष को देवता भी नहीं जीत सकते। तुम यदि अर्जुन को मुख्य रणभूमि से किसी उपाय द्वारा दूर हटा सको तो शेष पाण्डवों को पराजित करना मेरे लिए कठिन न होगा।'

'ठीक है, मैं कल ही इसकी व्यवस्था करूँगा।' दुर्योधन ने भरोसा दिलाया।

दुर्योधन के उकसाने पर संशप्तक नायक वीरों ने अर्जुन को युद्ध के लिए चुनौति दी और युद्ध करते हुए

उन्हें मुख्य रणभूमि से बहुत दूर ले गये।

यहाँ द्रोणाचार्य ने अपनी सेना के द्वारा चक्रव्यूह नामक व्यूह रचना की। इसके बाद उन्होंने पाण्डवों को युद्ध के लिए ललकारा।

जब युधिष्ठिर को सारी बात का पता लगा तो वे बहुत निराश और दुःखी हो गये। पाण्डव-पक्ष में एक मात्र अर्जुन ही चक्रव्यूह तोड़ने का रहस्य जानते थे और वे उनके बीच नहीं थे। अर्जुन के न होने से पराजय निश्चित जान पड़ती थी।

चारों पाण्डव निराश अपने खेमे में बैठे थे कि तभी वहाँ अर्जुन पुत्र सुभद्रा कुमार पंद्रह वर्षीय अभिमन्यु आया। उन्हें निराश देख अभिमन्यु ने कारण पूछा। धर्मराज युधिष्ठिर ने वस्तुस्थिति स्पष्ट कर दी। सुनकर अभिमन्यु खिल उठा। बोला, 'धर्म राज निराश और चिंतित होने की आवश्यकता नहीं। कल मैं अकेला ही व्यूह में प्रवेश कर शत्रुओं का दर्प चूर करूँगा।'

उसकी बात सुन सभी पाण्डव चकित रह गये। भीम ने पूछा, 'बेटा, तो क्या तुम चक्रव्यूह-भेद का रहस्य जानते हो ?'

'हाँ वीर श्रेष्ठ, मैं उसका रहस्य जानता हूँ।'

'किस तरह ? यह रहस्य तुमने कैसे जाना ?'

अभिमन्यु बताने लगा, 'उस समय मैं माता के गर्भ में था, तब एक दिन पिताजी माताजी को चक्रव्यूह-भेद का रहस्य विस्तारपूर्वक बताने लगे। पिताजी ने चक्रव्यूह के छह द्वार तोड़ने की बात बताई, इतने में ही माताजी को नींद आ गई। तब पिताजी भी शान्त हो गये और उसके आगे का विवरण नहीं बताया। इसलिये मैं चक्रव्यूह में प्रवेश करके उसके छह द्वार तोड़ सकता हूँ, लेकिन उसका सातवाँ द्वार तोड़कर बाहर निकल आने के रहस्य से अनभिज्ञ हूँ।'

अभिमन्यु की बात से उत्साहित हो भीमसेन ने कहा, 'सातवाँ द्वार तो मैं अपने गदा के प्रहार से तोड़ दूंगा।'

धर्मराज युधिष्ठिर यद्यपि नहीं चाहते थे कि बालक अभिमन्यु को व्यूह में भेजा जाये लेकिन दूसरा कोई उपाय भी नहीं था। अभिमन्यु दिग्गज योद्धाओं की तरह प्रतिदिन के युद्ध में सम्मिलित होते थे। स्वय अभिमन्यु व्यूह-प्रवेश के लिए युधिष्ठिर से बार-बार आग्रह करने लगा।

आखिर युधिष्ठिर को उसका आग्रह स्वीकार करना पड़ा।

दूसरे दिन प्रातःकाल नियत समय पर युद्ध आरंभ

ोणाचार्य ने व्यूह के मुख्य द्वार की रक्षा का भ
के बहनोई जयद्रथ को सौंपा । जयद्रथ ने कठ



द्वारा भगवान शंकर से यह वरदान प्राप्त कि
अर्जुन को छोड वह शेष पांडवों को परास
गा ।

अभिमन्यु ने अपनी भीषण बाण-वर्षा से जयद्रथ को ऐसा विचलित कर दिया कि वह द्वार छोड़कर व्यूह के अन्दर भाग गया। उसके द्वार से हटते ही तीव्र वेग से अभिमन्यु अपना रथ व्यूह के अन्दर ले गये। लेकिन उसके पीछे दूसरे पाडव व्यूह के अन्दर जा पाते, जयद्रथ फिर द्वार पर आ डटा और उन्हें अन्दर जाने से रोक दिया। पूरे दिन भर जी तोड़ कोशिश करने पर भी जयद्रथ के आगे उनकी एक न चली और उनके हर प्रयास को निष्फल कर जयद्रथ ने उन्हें अन्दर न जाने दिया। आखिर जयद्रथ को वर भी तो प्राप्त था।

पंद्रह वर्ष का बालक अभिमन्यु अपने रथ पर सवार व्यूह में प्रवेश कर गया था। चारो ओर से उस पर अस्त्र-शस्त्र की वर्षा हो रही थी, पर इससे न तो वह तनिक भी डरा और न विचलित हुआ। उसने अपने धनुष से पानी की झड़ी के समान चारों ओर बाणों की वर्षा प्रारम्भ कर दी। कौरवों की सेना के हाथी, घोड़े और सैनिक कट-कटकर गिरने लगे। रथ चूर-चूर होने लगे। चारो ओर हा-हाकार मच गया। सैनिक इधर-उधर भागने लगे।

द्रोणाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य जैसे बड़े-बड़े महारथी सामने आये लेकिन उस वीर बालक की गति

को कोई न रोक सका। वह दिव्यशास्त्रों को दिव्यास्त्र से काट देता था। उसकी भीषण मार से घबराकर आचार्य द्रोण और कर्ण तक को बार-बार पीछे हटना पड़ा। एक पर एक व्यूह के द्वार को तोड़ता, द्वार रक्षक महारथी को परास्त करता हुआ वह अबाध गति से आगे बढ़ता ही गया। इस तरह पिता द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर उसने छह द्वार पार कर लिये।

अभिमन्यु अकेला था और उसे बराबर युद्ध करना पड़ रहा था। जिन महारथियों को वह पराजित कर पीछे छोड़ देता वे उसे घेरकर फिर आगे युद्ध करने पहुँच जाते।

सातवें द्वार का मर्मस्थल कहाँ है, अभिमन्यु को यह ज्ञात नहीं था। इस पर भी न तो वह थका हुआ लगता था और न ही उसके उत्साह, स्फूर्ति व चपलता मे किसी तरह की कमी दिखाई पड़ती थी। दूसरी ओर कौरव पक्ष के सभी बड़े-बड़े महारथी अभिमन्यु की मार से घायल हो गये थे। द्रोणाचार्य ने तब साफ कह दिया, 'जब तक इस बालक के हाथ में शस्त्रास्त्र हैं, इसे जीतने की आशा नहीं करनी चाहिए।'

तब कर्ण आदि छह महारथियों ने एक साथ मिल-

कर अन्यायपूर्वक अभिमन्यु पर आक्रमण कर दिया। उनमें से एक-एक ने उसके रथ के एक-एक घोड़े मार दिये। एक ने सारथि को मार दिया और कर्ण ने उसका धनुष काट दिया। इस पर अभिमन्यु रथ पर से कूद पड़ा और तलवार हाथ में लेकर बिफरे शेर की तरह शत्रुओं पर टूट पड़ा। शत्रु सेना में एक बार फिर भगदड़ मच गई।

उस तरुण बालक को क्रूर शत्रुओं ने चारों ओर से घेर रखा था और अन्यायपूर्वक एक साथ मिलकर उस पर आक्रमण कर रहे थे। अभिमन्यु का कवच और शिरस्त्राण भी अन्तत: कटकर गिर गया। उसका शरीर बाणों के लगने से बुरी तरह घायल हो गया था और उसके अंग-अंग से रक्त की धारायें बह रही थीं।

जब अभिमन्यु के पास के सब अस्त्र-शस्त्र कटकर छिन्न-विछिन्न हो गये तब उसने रथ का चक्का उठाकर ही शत्रुओं पर प्रहार करना आरंभ किया। इस अवस्था में भी सामने से आकर उस पर आक्रमण करने का साहस कोई न जुटा सका। शत्रुओं ने पीछे से उसके शिरस्त्राण-रहित सिर पर गदे का प्रहार किया। इस प्रहार से घायल बालक वहीं धराशायी हो



गया। और इस तरह संग्राम में शूरतापूर्वक युद्ध करते हुए उसने वीरगति प्राप्त की।

इसी से भगवान श्रीकृष्ण ने बहन सुभद्रा को धैर्य बँधाते हुए स्वयं सहित प्रत्येक वीर के लिए अभिमन्यु जैसी मृत्यु को वांछनीय बतलाया।

आज भी वीरता के आदर्श के रूप में अभिमन्यु की अमरगाथा का महत्त्व अक्षुण्ण है।

लव-कुश

रावण को युद्ध में परास्त कर अन्ततः रामचन्द्रजी ने जानकी का उद्धार किया।

चूंकि सीताजी एक लम्बे समय तक राक्षसराज के यहाँ रहीं इसलिये उनकी पवित्रता की पुष्टि के लिए राम ने उनकी अग्नि-परीक्षा ली और उसमें उन्हें सर्वथा शुद्ध और पवित्र पाया।

किन्तु काल की गति को कौन पहचान सका है।

राजमहिषी होकर भी सीताजी के भाग्य में राज-सुख का भोग नही लिखा था।

एक धोबी द्वारा सीताजी पर लांछन लगाये जाने के कारण रामचन्द्रजी ने सीताजी को त्यागने का निर्णय ले लिया। लोगों ने बहुत समझाया। पर रामचन्द्रजी मर्यादा पुरुषोत्तम थे। वे अपने आदर्शों की रक्षा के प्रति सजग थे। अतः लोगों के समझाने के बावजूद वे अपने निर्णय पर अडिग रहे और सीताजी को वन में छोड़ आने का आदेश लक्ष्मण को दिया।

लक्ष्मण बड़े भाई की आज्ञा पालन हेतु बाध्य थे। उन्होंने रथ पर बिठाकर सीताजी को महर्षि वाल्मीकि के आश्रम के समीप वन में छोड़ दिया। उस समय सीताजी गर्भवती थीं।

महर्षि वाल्मीकि सीताजी को अपने आश्रम में ले आये। समय आने पर सीताजी ने यहीं जुड़वां बालकों को जन्म दिया, जिनका नाम महर्षि ने लव और कुश रखा। वे उन्हें शस्त्र-शास्त्रों से शिक्षित-दीक्षित भी करने लगे।

उधर अयोध्या में भगवान श्रीराम ने अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ली। विधिपूर्वक पूजा करके श्यामकर्ण अश्व छोड़ा गया। बड़ी भारी सेना के साथ राजकुमार पुष्कल तथा सेनापति कालजित के साथ शत्रुघ्न उस अश्व की रक्षा में चले। हनुमान तथा वानर-राज सुग्रीव भी वानर एवं रीछों की सेना लेकर शत्रुघ्न के साथ चल रहे थे। वह अश्व जिधर इच्छा होती उधर चला जाता, सेना उसके पीछे रहकर चलती थी ताकि अश्व को स्वतन्त्रतापूर्वक इधर-उधर जाने में कोई बाधा न हो। अनेक नरेशों ने स्वयं शत्रुघ्न का आधिपत्य स्वीकार किया और कुछ ने समझाने-बुझाने पर ऐसा किया। कहीं-कहीं संग्राम भी करना पड़ा। इस प्रकार

सर्वत्र विजय की दुंदभि बजाता वह अश्व अन्ततः घूमता हुआ महर्षि वाल्मीकि के तपोवन के निकट पहुँचा।

कुमार लव उस समय मुनि कुमारों के साथ वन में खेल रहा था। मणि-जटित स्वर्णाभूषणों से सज्जित उस परम सुन्दर घोड़े को देखकर सभी बालक उसके समीप आ गये। बड़े स्पष्ट तथा सुन्दर अक्षरों मे लिखा हुआ एक घोषणा पत्र अश्व के मस्तक पर बँधा था। उस घोषणा-पत्र में लिखा था, 'यह अयोध्या के चक्रवर्ती सम्राट महाराज श्रीराम के यज्ञ का अश्व है और परम-पराक्रमी शत्रुघ्न कुमार इसकी रक्षा कर रहे है। जिस देश से यह अश्व निकल जायेगा, वह जीता हुआ समझा जायेगा। जिस किसी क्षत्रिय मे साहस हो और जो अयोध्या के महाराज को अपना सम्राट न मानना चाहे, वह अश्व को पकड़े और युद्ध करे।'

इस घोषणा-पत्र को पढकर लव को क्रोध आ गया। उसने घोड़े को पकडकर एक वृक्ष से बाँध दिया और स्वयं धनुष-बाण हाथ में लेकर युद्ध के लिए तत्पर खड़ा हो गया। साथ के मुनि बालकों ने पहले तो उसे रोकने का प्रयास किया, पर वह जब नही माना तब युद्ध देखने के लिए वे सब कुछ दूर खडे हो

।

घोड़े के साथ चलने वाले रक्षकों ने देखा कि
ाक ने अश्व को बाँध दिया है। उन्होंने सोचा



लक ने नासमझी में ऐसी नादानी की है। बंध
ड़े को वे खोलने लगे। तभी सनसनाते तीर आ

उनकी भुजाओं में धँस गये । वे वहाँ से भागे और अश्व के बाँधे जाने की विस्तारपूर्वक सूचना शत्रुघ्न को दी ।

अपने सैनिकों की घायल भुजायें देख और उनकी बातें सुन शत्रुघ्न को समझते देर न लगी कि अश्व को बाँधने वाला बालक कोई साधारण बालक नहीं है । उन्होंने सेनापति को व्यूह-रचना की आज्ञा दी । सपूर्ण सेना दुर्भेघ व्यूह के रूप में खड़ी की गई और तब सब लोग सेना के साथ जहाँ अश्व बँधा था, वहां पहुँचे । एक छोटे से सुकुमार बालक को धनुष चढाये सम्मुख खड़े देख सेनापति ने उसे समझाने का प्रयास किया ।

'तुम मुझसे डरते हो तो लौट जाओ ।' लव ने कहा, 'इस अश्व के स्वामी श्रीराम से जाकर कहो कि लव ने उनका घोड़ा बाँध लिया है ।'

अन्ततः वहाँ युद्ध आरम्भ हो गया ।

लव के बाणों की वर्षा से सेना मे भगदड़ मच गई। हाथी, घोड़े और सैनिक कट-कटकर गिरने लगे । सेनापति कालजित ने पूरे पराक्रम से युद्ध किया, लेकिन लव ने उसके सभी अस्त्र-शस्त्र बात की बात में काट डाले और फिर उसकी दोनों भुजाये और अन्त में मस्तक भी काट गिराया ।

पहले तो शत्रुघ्न को अपने सैनिकों द्वारा दिये इस समाचार पर विश्वास ही नहीं होता था कि कोई यम-राज के लिए भी दुर्धर्ष सेनापति को मार सकता है। अन्त में समाचार सही जानकर, अपने मंत्रियों से सलाह लेकर वे स्वयं सम्पूर्ण सेना के साथ युद्ध क्षेत्र में आ गये।

उस बड़ी सेना ने लव को चारों ओर से घेर लिया। लव ने जब देखा कि वह चारों ओर से घिर चुका है तो उसने इतनी भीषण बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी कि सैनिकों के हौसले पस्त हो गये। वे छिन्न-भिन्न होकर भागने लगे।

सैनिकों को भागते देख पुष्कल आगे बढ़े। पर थोडी देर के संग्राम में ही लव के बाण से पुष्कल मूर्च्छित हो गये। पुष्कल के मूर्च्छित होते ही क्रोधित हो हनुमान युद्ध के लिए आगे कूद पड़े। उन्होंने लव पर पत्थरों तथा वृक्षों की वर्षा प्रारभ कर दी, पर लव ने उन सबके टुकड़े बिखेर दिए। क्रोध में भरकर हनु-मान ने लव को अपनी पूछ में लपेट लिया। तब लव ने अपनी माता का स्मरण करके उनकी पूंछ पर एक घूँसा जमाया। इस घूँसे की चोट से पीड़ा से तिल-मिलाकर हनुमान ने लव को छोड दिया। अब लव ने

उनको इतने बाण मारे कि वह भी मूच्छित हो गये।

अब शत्रुघ्न लव के सामने आये। घनघोर संग्राम के पश्चात् लव ने उनको भी मूच्छित कर दिया। शत्रुघ्न को मूच्छित होते देखकर सुरथ आदि नरेश लव पर टूट पडे। अकेला लव बड़े-बड़े अनेक महारथियों से संग्राम कर रहा था। वह संग्राम-रत ही था कि तभी शत्रुघ्न की मूर्च्छा टूटी। शत्रुघ्न ने भगवान श्रीराम का दिया वह बाण धनुष पर चढ़ाया, जिससे उन्होने लवणासुर को मारा था।

उस तेजोमय बाण के छाती में लगने से लव मूच्छित होकर गिर पड़ा। मूच्छित लव को रथ पर रखकर अयोध्या ले जाने का विचार शत्रुघ्न करने लगे।

जो मुनि कुमार दूर खड़े युद्ध देख रहे थे वे भागकर आश्रम पहुँचे और माता जानकी को सारी बात बताते हुए कहा कि मूच्छित लव को रथ पर लाद वे कहीं ले जाने का प्रयास कर रहे हैं।

इस दु:खद समाचार से माता जानकी रोने लगीं। तभी वहाँ कुमार कुश आ पहुँचे। मुनि कुमारों ने उसे भी सारी बात बता दी। सुनते ही कुश ने क्रोध में भर कर अपना धनुष-बाण उठाया और माता को प्रणाम

कर युद्ध भूमि की ओर दौड़ पड़े ।

लव उस समय रथ पर पड़ा था लेकिन उसकी मूर्च्छा दूर हो रही थी । दूर से दौड़कर आते भाई कुश को उसने देख लिया और वह भी रथ से कूदकर नीचे आ गया ।

अब कुश ने पूर्व से और लव ने पश्चिम से रणभूमि में खड़े योद्धाओं पर आक्रमण बोल दिया । क्रोध में भरे बालकों की मार से वहाँ की युद्धभूमि लाशों से पट गई । बड़े-बड़े योद्धा भागकर प्राण बचाने का प्रयत्न करने लगे । जो भी युद्ध करने आता, कुछ क्षणों में ही उसका शरीर बाणो से छलनी हो जाता ।

हनुमान और अगद को लव तथा कुश वाण मार-मारकर बार-बार आकाश मे फेकने लगे । जब ये दोनों आकाश से भूमि पर गिरने को होते तब वे फिर बाण मारकर उन्हें ऊपर उछाल देते । इस प्रकार गेंद की तरह उछलते-उछलते उन्हें बड़ी पीड़ा हुई । आखिर लव कुश को उन पर तरस आ गया और उन्होने उन पर बाण चलाना बन्द कर दिया । तब पृथ्वी पर गिर-कर वे दोनो मूर्च्छित हो गये ।

कुश ने तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से शत्रुघ्न को भी मूर्च्छित कर दिया । महावीर सुरथ कुश के बाणों के

आघात से धराशायी हो गये और वानरराज सुग्रीव को कुश ने वरुण-पाश में बाँध लिया। इस प्रकार दोनों भाइयों ने युद्ध जीत लिया।

युद्ध के बाद लव ने कुश से कहा, 'भाई कुश, इस युद्ध की विजय-स्मृति के रूप में हम कोई चिन्ह ले चलें।'

दोनों भाइयों ने पहले शत्रुघ्न के मुकुट में जड़ी बहुमूल्य मणि निकाल ली, फिर लव ने पुष्कल का किरीट उतार लिया। उसकी भुजाओं में बड़े बहुमूल्य स्वर्णाभूषण और उनके अस्त्र-शस्त्र भी दोनों भाइयों ने ले लिये।

'भैया, मैं इन दोनों बन्दरों को भी ले चलूँगा।' लव ने कहा, 'इनको देखकर माताजी हँसेंगी, मुनिकुमार प्रसन्न होंगे और अपना भी मनोरंजन होगा।'

दोनों भाइयों ने एक-एक कर सुग्रीव तथा हनुमान की पूँछ पकड़ी और उन्हें उसी तरह उठाये वे आश्रम की ओर चले।

माता जानकी आश्रम के द्वार पर खड़ी पुत्रों के सकुशल लौट आने की प्रतीक्षा कर रही थी। उन्हें लौट आता देख वे बड़ी प्रसन्न हुईं। दो वानरों को पूँछ से उठाये लाता देख पहले तो सीताजी को हँसी

आ गई पर जब दोनों कुमार निकट आ गये तो वानरों को पहचानकर उनकी हँसी लुप्त हो गई। पुत्र को डाटते हुए उन्होंने कहा, 'तुम इन्हें शीघ्र छोड़ दो। ये लका को भस्म करने वाले महावीर हनुमान हैं और ये वानरराज सुग्रीव।'

दोनों भाइयों ने उन्हें छोड़ दिया और सरल भाव से युद्ध का कारण तथा परिणाम बता दिया। सुनकर माता जानकी विचलित होकर बोलीं, 'पुत्रो, तुम दोनो ने बड़ा अन्याय किया है। वह तो तुम्हारे पिता का अश्व है। उसे इसी समय छोड़ दो।'

'पर हमने तो क्षत्रयि-धर्म के अनुसार ही घोड़े को बाँधा था और युद्ध करने वाले लोगों को हराया था।' दोनों भाइयों ने कहा, 'महर्षि वाल्मीकि ने हमें यही पढ़ाया है कि धर्मपूर्वक युद्ध करने वाला क्षत्रिय पाप का भागी नहीं होता। अब आप कहती हैं तो हम अश्व को छोड़ देते हैं।'

उनके जाने पर आँखे बन्द कर माता जानकी ने सकल्प लिया, 'यदि मैंने मन से भी श्रीराम को छोड-कर कभी किसी पुरुष का चितन किया हो, यदि मेरा चित्त धर्म में अविचल भाव से स्थिर रहा हो तो युद्ध में घायल, मूच्छित और मारे गए लोग पुनः स्वस्थ

व जीवित हो जायें।'

इधर जानकीजी के मुख से ये शब्द निकले और उधर युद्ध भूमि में सब लोग निद्रा से जागे हुए के समान उठ बैठे। उनके कटे हुए अंग भी जुड़ गए थे। किसी के शरीर पर चोट का कोई निशान नहीं था। शत्रुघ्न ने देखा कि उनके मुकुट की मणि नहीं है। पुष्कल को अपना किरीट, आभूषण व अस्त्र-शस्त्र नहीं मिले।

सामने यज्ञ का अश्व खड़ा था। उसे लेकर वे सब अयोध्या लौट गये और वहाँ पहुँचकर भगवान श्रीराम से सारी बातें बताईं।

बाद में जब यज्ञ आरंभ हुआ तो महर्षि वाल्मीकि लव और कुश को अपने साथ लेकर अयोध्या गए थे।



एकलव्य

निषादराज हिरण्य धनु का पुत्र एकलव्य एक दिन हस्तिनापुर में आया। उसने उस समय के धनुर्विद्या के सर्वश्रेष्ठ आचार्य, कौरव-पाण्डवों के शस्त्र-गुरु द्रोणाचार्य जी के चरणों में दूर से ही साष्टांग प्रणाम किया। अपनी वेश-भूषा से ही वह अपने वर्ण की पहचान दे रहा था। अतः आचार्य द्रोण ने जब उससे अपने पास आने का कारण पूछा तो उसने बताया, 'मैं आपके श्रीचरणों में रहकर धनुर्विद्या की शिक्षा लेने आया हूँ।'

आचार्य बड़े संकोच में पड़ गये। उस समय कौरव तथा पाण्डव बालक थे और आचार्य उन्हे शिक्षा दे रहे थे। एक निषाद बालक को शिक्षा देना राजकुमार हरगिज स्वीकार नहीं करते और यह खुद उनकी मर्यादा के अनुरूप भी न था। भीष्म पितामह को आचार्य ने राजकुमारों को शस्त्र-शिक्षा देने का वचन दे रखा था। अतः उन्होंने एकलव्य से कहा, 'बेटा एकलव्य, तुम्हारे

मुझ तक आने के साहस और उत्साह को मैं प्रशंसा करता हूँ, किन्तु तुम्हे सुनकर दुःख होगा कि मैं किसी द्विजेतर बालक को शस्त्र-शिक्षा नहीं दे सकता।'

एकलव्य ने तो द्रोणाचार्यजी को मन ही मन अपना गुरु मान लिया था। जिसे गुरु मान लिया, उसकी किसी भी बात को सुनकर रोष या दोष दृष्टि करने की बात फिर भला मन में आती कैसे। निषाद के उस छोटे बालक को जरा भी न तो हताशा हुई और न निराशा। उसने फिर आचार्य के सम्मुख पहले की तरह भूमि पर लेटकर प्रणाम किया और कहा, 'भगवन्, मैने तो आपको गुरुदेव मान लिया है। मेरे किसी कार्य से आपको संकोच हो या आपकी गरिमा को आघात पहुँचे, यह मैं नहीं चाहता। बस, मुझ पर तो आपका अनुग्रह ही पर्याप्त है।'

बालक एकलव्य हस्तिनापुर से लौटकर घर नहीं गया। वह वन में चला गया और वहाँ उसने मिट्टी की द्रोणाचार्य की एक मूर्ति बनाकर स्थापित कर दी। उस मूर्ति को प्रणाम कर वह बाण-विद्या का अध्ययन करने लगा।

ज्ञान के एकमात्र दाता तो भगवान ही है। जहाँ अविचल श्रद्धा और दृढ़ निश्चय होता है, वहाँ सबके

हृदय में वास करने वाले श्री हरि स्वयं गुरु बन जाते है या बिना गुरु के भी ज्ञान के प्रकाश से भक्त का मानस आलोकित कर देते है ।

माह पर माह बीतते गये । निष्ठावान एकलव्य का अखण्ड अभ्यास चलता रहा और वह महान् धनुर्धर हो गया ।

एक दिन द्रोणाचार्य अपने शिष्य पाण्डव एवं कौरवो को बाण विद्या का अभ्यास कराने के लिए आखेट करने वन में लिवा ले गए । संयोगवश उनके साथ गया कुत्ता भटकता हुआ एकलव्य के डेरे के पास पहुँच गया और काले वर्ण के तथा विचित्र वेषधारी एकलव्य को देख-कर भूँकने लगा ।

एकलव्य के केश बढ़ गये थे और उसके पास वस्त्र के नाम पर कमर में लिपटा बाघ का चर्म-मात्र था । पहले तो एकलव्य ने कुत्ते को दुतकार कर भगा देना चाहा क्योंकि वह उस समय धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहा था और उसके भौंकने से उसकी एकाग्रता में बाधा पहुँच रही थी। पर जब कुत्ता न तो वहाँ से भागा और न ही उसने भूंकना बन्द किया तो एकलव्य ने उसका मुंह बन्द करने का निश्चय कर लिया और सात बाण चलाकर कुत्ते का मुंह बन्द कर दिया ।

उसी अवस्था में कुत्ता भागता हुआ अपने स्वामी के पास पहुँचा । सबने बड़े आश्चर्य से देखा कि बाणों से कुत्ते को कही जरा भी चोट नहीं आई, किन्तु वे आड़े-तिरछे उसके मुँह मे इस तरह फँसे हैं कि वह भूँक नहीं सकता । बिना चोट पहुँचाये इस प्रकार कुत्ते के मुँह में बाण भर देना बाण चलाने का बहुत बड़ा कौशल है । पाण्डवों में अर्जुन इस हस्त-कौशल को देखकर बड़ा चकित हुआ। उसने द्रोणाचार्य से कहा, 'गुरुदेव, आपने तो कहा था कि आप मुझे पृथ्वी का सबसे बड़ा धनुर्धर बना देंगे, किन्तु इतना हस्त-कौशल तो मुझमें भी नहीं है ।'

'चलो, हम सब उसकी तलाश करते है ।'

द्रोणाचार्य जी ने सबको साथ लेकर उस बाण चलाने वाले को वन में ढूंढ़ना प्रारम्भ किया और वे एकलव्य के आश्रम पर पहुँच गये । आचार्य को सामने पा एकलव्य उनके चरणों पर गिर पड़ा । द्रोणाचार्य ने पूछा, 'सौम्य, तुमने बाण-विद्या का इतना उत्तम अभ्यास किससे प्राप्त किया ?'

हाथ जोड़कर एकलव्य ने नम्रता पूर्वक कहा, 'भगवन्, मैं तो आपके श्रीचरणों का ही दास हूँ ।' फिर उसने संकेत से आचार्य को उनकी मिट्टी की

ई ।

ार्य सब सब समझ गए । बोले, 'भद्र, तो तुम
दक्षिणा नहीं दोगे ?'



ा करें भगवन् । मेरे सामर्थ्य योग्य हुई तो
गा ।'

' तुम्हारे दाहिने हाथ का अंगूठा चाहिये ।'

आचार्य द्रोण ने कहा ।

दाहिने हाथ का अंगूठा ! दाहिने हाथ का अंगूठा न रहे तो बाण चलाया ही कैसे जा सकता है ? इतने दिनों की अभिलाषा, इतना बड़ा परिश्रम, इतना अभ्यास—सब व्यर्थ हुआ जा रहा था। किन्तु एकलव्य के मुख पर खेद की एक रेखा तक न आई। उस वीर गुरु भक्त बालक ने बांये हाथ में कटार ली और तुरन्त अपने दाहिने हाथ का अंगूठा काटकर अपने हाथ में उठाकर गुरुदेव के सामने कर दिया ।

भरे कण्ठ से द्रोणाचार्य ने कहा, 'बेटा, संसार में धनुर्विद्या के अनेकों महान् ज्ञाता हुए हैं और होंगे, किन्तु मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा इस महान् त्याग का सुयश सदा अमर रहेगा ।'

आज भी जब गुरु भक्ति की मिसाल देनी होती है तो सब एकलव्य का ही नाम लेते है ।

गणेश

एक बार देवलोक के सभी देवताओं में इस प्रश्न पर विवाद छिड़ गया कि यज्ञ, हवन, पूजन आदि अनुष्ठान आरम्भ करने के पूर्व किस देवता की पूजा की जाये। प्रत्येक देवता अपने मुख से ही अपने गुणों, चमत्कारों और शक्ति का बखान करते हुए अपनी महत्ता प्रतिपादित करने लगे। सभी चाहते थे कि यह सम्मान उसे ही प्राप्त हो। जब आपस में कोई निपटारा न हो सका तो सब मिलकर ब्रह्माजी के पास गये, क्योंकि सबके पिता-पितामह तो ब्रह्माजी ही हैं और सत्पुरुष बड़े-बूढ़ों की बात अवश्य मान लिया करते हैं।

उनकी बात सुनकर ब्रह्माजी ने समाधान बताते हुए कहा, 'जो पृथ्वी की परिक्रमा करके सबसे पहले मेरे पास पहुँचे, वही सर्वश्रेष्ठ है और वही सर्व प्रथम पूज्यनीय एवं वंदनीय है।'

ब्रह्माजी के इस निर्णय से देवताओं में भगदड मच

गई। कोई हाथी पर सवार हुआ, कोई घोड़े पर तो कोई रथ पर। पशु तथा पक्षियों पर भी देवता बैठ गये। जिसका जो वाहन है, वह अपने उस वाहन पर सवार हो पूरे वेग से दौड़ चला। सभी इस प्रयत्न में लग गये कि सबसे पहले वही पृथ्वी की परिक्रमा कर ले।

अकेले गणेश जी ही वहाँ सोचते खड़े रह गये। एक तो उनका भारी-भरकम शरीर और बड़ी-सी तोंद, उस पर उनका वाहन ठहरा चूहा। वे सोच रहे थे—'मेरा चूहे पर बैठकर दौड़ना व्यर्थ है। चूहा दौड़ में इतने पशु-पक्षियों से आगे नहीं जा सकता।' लेकिन सोचते-सोचते उन्हें एक बात सूझ गई। वे चूहे पर कूद-कर बैठ गये और सीधे कैलाश की ओर भागे। गणेश जी की ओर देखने की किसी को फुरसत न थी।

कैलाश पहुँचकर गणेशजी ने सीधे माता पार्वती का हाथ पकड़ा और कहा, 'माँ, माँ! तू झटपट चल-कर पिताजी के पास जरा देर को बैठ जा।'

पार्वतीजी ने अपने पुत्र की अकुलाहट देखकर हँसते हुए पूछा, 'क्या बात है? तू इतनी हड़बड़ी में क्यों है?'

'तू चलकर पहले बैठ तो जा।' गणेशजी बोले, 'पिताजी तो ध्यान मग्न बैठे हैं। वे तो जल्दी उठेंगे

नहीं। तू जल्दी चल।'

माता पार्वती क्या करतीं ? पुत्र का मन रखने के



लिए वे भगवान शंकर के समीप बाईं ओर बैठ गईं।

गणेशजी ने भूमि पर लेटकर माता-पिता को प्रणाम किया और फिर अपने चूहे पर बैठकर दोनों की सात प्रदक्षिणा कीं। फिर माता-पिता को प्रणाम कर वे

ब्रह्मलोक की ओर दौड़ पड़े ।

परिक्रमा कर जब सारे देवता ब्रह्माजी के पास पहुँचे तो उन्होंने देखा कि ब्रह्माजी के पास गणेशजी पहले से बैठे हैं। देवताओं ने समझा कि अपनी हार निश्चित जान गणेशजी ने उस परिक्रमा-दौड़ में हिस्सा ही नहीं लिया । लेकिन जब ब्रह्माजी ने उन्हें बताया कि गणेश जी सर्वप्रथम पूज्यनीय हैं तो वे चकित रह गए । एक देवता ने कहा, 'आपने तो कहा था कि पृथ्वी की परिक्रमा कर जो पहले आयेगा, वही प्रथम पूज्य होगा ।'

ब्रह्माजी बोले, 'हाँ, कहा था । गणेश ने समस्त ब्रह्माण्डों की एक-दो नहीं, पूरी सात परिक्रमा की हैं और सबसे पहले मेरे पास पहुँचे हैं ।'

देवता एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे ।

'यह कैसे हो सकता है ? यह असम्भव है ?' कई जिज्ञासायें उठीं ।

ब्रह्माजी ने उन्हें समझाते हुए कहा, 'माता साक्षात् पृथ्वी का स्वरूप है और पिता तो भगवान् नारायण की मूर्ति है । नारायण में ही समस्त ब्रह्माण्ड रहते हैं ।'

सारी बात जानकर देवताओं ने चुप्पी साध ली वे नतमस्तक हो गये । सबने गणेशजी को प्रणाम किया ।

माता-पिता में श्रद्धा रखने के कारण गणेशजी प्रथम पूज्य हो गये ।

स्कंदगुप्त

पाँचवीं शताब्दी में मध्य-एशिया के मरुस्थल प्रदेशों में हूण, शक जैसी बर्बर कबीलियाई जाति बड़ी तेजी से उभरी। ये जितने पराक्रमी और लड़ाकू योद्धा थे, उतने ही निष्ठुर और निर्दयी भी थे। यूरोप पर बार-बार हमला बोल उन्होंने उसे लगभग उजाड़-सा दिया था। इनके आक्रमण से रोम की बहुत बड़ी सत्ता नेस्तनाबूद हो गई थी और राज्य तहस-नहस हो गया था। चीन पर भी इन्होंने अनेक बार आक्रमण किया था और वहाँ भयंकर मार-काट कर लूट-पाट मचाई थी। असंख्य सैनिकों से युक्त ये अपनी विशाल सेना लेकर जिस देश पर पर भी चढ़ जाते थे, वहाँ हा-हाकार मच जाता था, लोगों को जान बचाने के लाले पड़ जाते थे।

भारत की विपुल धन-धान्य और संपदा के कारण उसे प्राचीन काल से ही 'सोने की चिड़िया' कहकर पुकारा जाता था। उस समय यह विश्व के सम्पन्न

देशों में से एक था और इसकी परम्पराएँ उतनी ही गौरवशाली और महान् थीं।

भारत की सम्पन्नता ने सहज ही उन बर्बर जातियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और उन्होंने भारत पर चढ़ाई करने का निर्णय ले लिया।

मगध के सम्राट कुमारगुप्त का दरबार लगा हुआ था।

कुमारगुप्त प्रजापालक और न्यायप्रिय सम्राट थे। उस समय भी वे राज्य के कुछ अपराधियों का न्याय कर रहे थे कि एक विशेष दूत ने दरबार में प्रवेश किया।

'सम्राट की जय हो।' दूत ने कहा, 'महाराज, मैं एक विशेष और महत्त्वपूर्ण समाचार लेकर आया हूँ।'

सम्राट बोले, 'सुनाओ।'

'राज्य की सीमा पर नियुक्त हमारे गुप्तचरों ने खबर दी है कि हिमालय पर्वत के दूसरी ओर हूणों की एक बहुत बड़ी सेना भारत पर आक्रमण करने के लिए एकत्रित हो रही है।' दूत ने बताया।

इस समाचार से सम्राट के माथे पर बल पड़ गये। दरबारी भी कुछ सिहर से उठे क्योंकि हूणों की निर्ममता और बर्बरता के कई किस्से उन्होंने सुन रखे थे।

उस समय भारत में सबसे बड़ा राज्य मगध का ही था। वीरता, पराक्रम, वैभव, अतुल सम्पदा—सभी दृष्टि से वह भारत के अन्य राज्यों की तुलना में सर्वोपरि था। इसी कारण हूणों का ध्यान सहज ही उस ओर आकर्षित हुआ था।

दूत से यह समाचार पा सम्राट अपने मन्त्रियों को लेकर मंत्रणा-कक्ष में चले गए, जो दरबार के विशाल कक्ष के एक कोने में स्थित था। हूणों के आक्रमण का सामना किस तरह किया जाये और उनके आक्रमण को किस तरह विफल बनाया जाये, इसी पर सम्राट अपने मन्त्रियों और सेनापतियों से विस्तृत चर्चा करने लगे।

इसी समय सम्राट का पन्द्रह वर्षीय वीर-पुत्र स्कदगुप्त दरबार में आया। दरबारियों से सारी बातें सुनकर वह सीधे मंत्रणा-कक्ष में पहुँचा। वहाँ पहुँचते ही उसने कहा, 'पिताजी, मैं जाऊँगा हूणों से युद्ध करने।'

सम्राट और वहाँ उपस्थित सभी लोगों ने अचरज से उसे देखा।

'मुझे दरबार में सारी बाते मालूम हो चुकी है।' स्कंद गुप्त ने कहा, 'पिताजी, चाहे कुछ भी हो जाये पर हूणों से युद्ध करने मैं अवश्य जाऊँगा।'

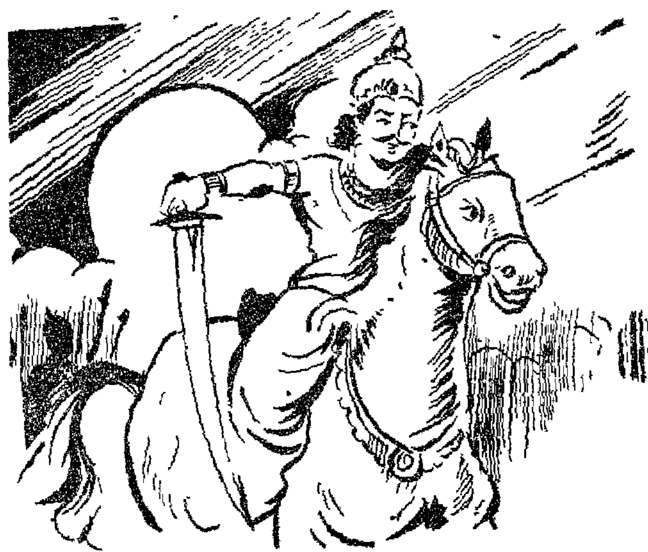
तब सम्राट गुप्त ने उसे समझाते हुए कहा, 'बेटा, हूण बहुत पराक्रमी और निर्दयी होते हैं। वे अधर्मपूर्वक छिपकर भी लड़ते हैं और उनकी संख्या भी अधिक है। उससे लड़ना तो साक्षात् मौत से लड़ना है।'

लेकिन युवराज स्कंदगुप्त ऐसी बातों से विचलित होने वाला न था। सीना तानकर उसने कहा, 'पिताजी, देश और धर्म की रक्षा के लिए मर जाना तो वीर क्षत्रिय के लिए बड़े मंगल की बात है। अगर वे साक्षात् मौत हैं तो मैं मौत से लड़ूंगा और अपने देश को क्रूर शत्रुओं के हाथों लूटे जाने से बचाऊँगा।'

सम्राटकुमार गुप्त, बड़े-बूढ़े मंत्री और सेनापतियों ने स्कंदगुप्त को हर तरह से समझाया किन्तु स्कंदगुप्त अपने इरादे से टस से मस न हुआ। तब सम्राट ने उसे युद्ध में जाने की आज्ञा दे दी।

आततायी हूणों से अपनी मातृभूमि की रक्षा हेतु मगध के लगभग सभी वासियों ने अस्त्र उठा लिये। देखते-देखते दो लाख सैनिकों की विशाल फौज कूच करने को तैयार हो गई। स्कंदगुप्त ने पिता के पैर छुये तो पिता ने उसे हृदय से लगा लिया। माता ने उसका माथा चूमकर उसे विजयी होकर लौटने का आशीर्वाद दिया।

पाटलिपुत्र यानि पटना से सेना चल पड़ी। पंजाब
। कर हिमालय की बर्फ से ढँकी चोटियों पर वे
सैनिक चढ़ गये। भयानक सर्दी, शीतल हवा के
और बर्फ के तूफान भी उन्हें आगे बढ़ने से न रोक



हूणों ने दूसरे देशों पर आक्रमण करने में हमेशा
ओर से पहल की थी। कोई आगे बढ़कर उन
ो आक्रमण कर सकता है, इसकी उन्होंने कभी
में भी कल्पना नहीं की थी।

जब उन्होंने देखा कि हिमालय की ढाल पर से

एक बड़ी भारी सेना उन पर आक्रमण करने उतर रही है तो पहले तो उन्हें बड़ा विस्मय हुआ, फिर मुकाबला करने के लिए वे भी आनन-फानन में तैयार हो गये।

उन्हें सबसे अधिक अचरज इस बात का हो रहा था कि उस पर्वत से उतरती विशाल सेना के आगे एक छोटी अवस्था का बालक घोडे पर बैठा एक हाथ में नंगी तलवार थामे आ रहा है। वह स्कंदगुप्त था।

पर्वत की तराई से नीचे उतरकर मैदानी धरती पर कदम रखते ही स्कंदगुप्त ने ललकारकर अपने सैनिकों को दुश्मनों पर टूट पड़ने का आदेश दिया।

भीषण युद्ध आरम्भ हो गया। सैनिकों ने मरते दम तक मातृभूमि की रक्षा की कसम खाई थी इसलिये वे दुगने जोश से लड़ रहे थे।

युवराज स्कंदगुप्त के शरीर में मानों बिजली प्रवाहित हो गई थी। वह जिधर से निकलता शत्रुओ को मार-काटकर ढेर लगा देता। युवराज और जोशीले सैनिकों की भयंकर मार से थोड़ी ही देर में हूणों की हिम्मत टूट गई। वे युद्ध स्थल में इधर से उधर भागने लग गये।

और थोड़ी ही देर में पूरी हूण सेना भाग खड़ी हुई।

शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर युवराज स्कंदगुप्त जब हिमालय पार कर भारत वापस लौटा तो जगह-जगह उसका और उसके विजयी वीर सैनिकों का अभूत-पूर्व स्वागत हुआ। हर गाँव, कस्बे, नगर में बन्दन-वार लगाये गये, उनकी मंगल आरती उतारी गई और उनका लाखों लोगों ने पलक-पाँवड़े बिछाकर अभि-नंदन किया।

मगध में तो राजधानी से पाँच कोस तक का मार्ग सजाया गया था। विजयोल्लास का उत्सव सात दिनों तक दीपावली की तरह मनाया जाता रहा।

यही युवराज स्कंदगुप्त आगे जाकर भारत के सम्राट हुए। आज के ईरान और अफगानिस्तान तक उन्होंने अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। इनके जैसा पराक्रमी वीर भारत को छोड़कर दूसरे देश के इतिहास में मिलना कठिन है। इन्होंने दिग्विजय कर अश्वमेध यज्ञ भी किया था। वीर और पराक्रमी तो वे थे ही, धर्मात्मा, दयालु और न्यायप्रिय सम्राट के रूप में भी इन्हें प्रसिद्धि मिली।

चण्ड

भारत के इतिहास में चित्तौड़ अपनी वीरता और पराक्रम के लिए हमेशा से ही प्रसिद्ध रहा है। चित्तौड़ के वीरों की शौर्य-गाथा में भारत के इतिहास की अमूल्य धरोहर है।

उन दिनों चित्तौड़ के राजसिंहासन पर राणा लाखा विराजमान थे। वे बहुत वीर और पराक्रमी थे। अपने पराक्रम से उन्होंने दिल्ली के बादशाह बह-लोल लोदी को युद्ध में पराजित किया था, इससे उनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई थी।

राणा के सबसे बड़े पुत्र का नाम था—चण्ड। वह अपने पिता के अनुरूप ही वीर और दृढ़ निश्चयी था। अन्य गुणों में भी वह श्रेष्ठ था। राणा तो उसे चाहते ही थे, राज्य की प्रजा भी उसके सद्गुणों की प्रशंसा कर उसका आदर करती थी।

उन दिनों राजस्थान में तरुणावस्था में ही लड़कों का ब्याह हो जाया करता था। चण्ड भी पन्द्रह वर्ष



का हो चला था । सो जोधपुर के नरेश राव रणमल्ल ने राजकुमार चण्ड के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने के लिए राजपण्डित को नारियल सहित शुभ-सन्देश देकर चित्तौड़ के दरबार में भेजा ।

जोधपुर से नारियल लेकर जिस समय राजपंडित राजसभा मे पहुँचे, उस समय चण्ड राजसभा में उपस्थित न था । राजपंडित ने नारियल राणा लाखा को दिया और साथ ही जोधपुर नरेश का यह सन्देश सुनाया, 'राव रणमल्ल ने यह नारियल राजकुमार चण्ड के लिए भेजा है ।'

राणा लाखा ने परिहास करते हुए कहा, 'मैने तो समझा था कि आप इस बूढ़े के लिए यह नारियल लेकर आये है और राजकुमार चण्ड का नाम लेकर मुझे बहला रहे हैं ।'

राणा की बात सुनकर सभी लोग हँस पड़े ।

संयोग की बात कि उसी समय राजकुमार चण्ड राजसभा में प्रविष्ट हुआ । राजसभा में प्रविष्ट करते-करते उसने अपने पिता की बात सुन ली थी ।

'आओ बेटा चण्ड ।' राणा बोले, 'जोधपुर के राज-पुरोहित तुम्हारे विवाह का नारियल लेकर आये है ।'

बड़ी नम्रता से चण्ड ने कहा 'जिस कन्या के

वांछित सम्बन्ध हेतु भेजे नारियल को मेरे पिता ने अपने लिए आया कह दिया हो, वह तो मेरी माता हो चुकी। मैं उससे विवाह नहीं कर सकता।'

स्थिति को विकट और अप्रत्याशित मोड़ लेते देखे राणा हड़बड़ा उठे। बोले, 'वह तो मैंने परिहास में कह दिया था।'

'परिहास में ही सही। किन्तु राजपूतों की जबान से निकली बात पत्थर की लकीर होती है।'

स्थिति बड़ी अजीब हो गई। नारियल को लौटा देना तो जोधपुर नरेश और उनकी निर्दोष कन्या का अपमान करना था और राजकुमार चण्ड किसी तरह यह विवाह करने को तैयार नहीं था। राणा ने बहुत समझाया, पर चण्ड अपनी बात पर अटल रहा।

जिस पुत्र ने कभी पिता की आज्ञा न टाली थी, उसे इस प्रकार जिद में अड़ा देख राणा को क्रोध आ गया। उन्होंने कहा, 'यह नारियल लौटाया नहीं जा सकता। राव रणमल्ल का सम्मान करने के लिए मैं स्वयं इसे स्वीकार कर रहा हूँ। लेकिन तुम भी कान खोलकर सुन लो कि यदि इस सम्बन्ध से कोई पुत्र हुआ तो चित्तौड़ के सिंहासन पर वही बैठेगा।'

पिता की इस बात से युवराज चण्ड को तनिक भी

हुआ। भीष्म पितामह की तरह उसने कहा,
में आपके चरणों को छूकर प्रतिज्ञा करता हूँ
नई माता से जो पुत्र होगा, वही सिंहासन पर
और मैं जीवन पर्यन्त उसकी सेवा में लगा



कुमार चण्ड की इस प्रतिज्ञा से राणा सहित
के सभी लोग स्तंभित रह गये। एक साधारण
स का इतना भयंकर परिणाम होगा, इसकी
किसी ने न की थी।

रह वर्ष की राजकुमारी का परिणय अन्ततः

पचास वर्षीय राणा लाखा के साथ हुआ।

कालांतर में इस नई रानी से राणा को एक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसका नाम मुकुल रखा गया। अभी मुकुल लगभग पाँच वर्ष का ही हो पाया था कि तभी तीर्थराज गया पर मुसलमानों ने आक्रमण कर दिया। राणा तीर्थराज गया के संरक्षक थे, अतः उसकी रक्षा करना उनका कर्त्तव्य था। खबर मिलते ही उन्होंने अपनी सेना सजाई। इतनी बड़ी पैदल यात्रा और फिर युद्ध, क्या भरोसा वे जीवित दोबारा चित्तौड़ लौट ही न पायें। यह सोच उन्होंने चण्ड से कहा, 'बेटा, मैं तो धर्म-रक्षा के लिए जा रहा हूँ। मेरे बाद तेरे छोटे भाई मुकुल के भविष्य का ख्याल रखना।'

चण्ड राणा के मन की दुविधा ताड़ गया, और बोला, 'चित्तौड़ का राजसिंहासन तो उसी का है।'

राणा नहीं चाहते थे कि पाँच वर्ष के बालक को सिंहासन पर बिठाया जाये। उन्होंने तरह-तरह से चण्ड को समझाने का प्रयास किया, पर चण्ड अपने इरादे से टस से मस न हुआ राणा के सामने ही सिंहासन पर बिठाकर उसने मुकुल का राज्याभिषेक किया और सबसे पहले स्वयं उसी ने उसके मस्तक पर राजतिलक लगाया।

राणा लाखा युद्ध के लिए गये और फिर नहीं लौटे।

राजसिंहासन पर मुकुल को बिठाकर उसकी ओर से चण्ड स्वयं राज्य का शासन-प्रबन्ध चलाने लगा। उसके सुप्रबन्ध से प्रजा सुखी एवं सम्पन्न हो गई।

इतना सब करने के बावजूद मुकुल की माता अर्थात् अब राजमाता के मन में यह सन्देह घर कर गया कि चण्ड मुकुल को सिंहासन पर से हटाकर स्वयं राज्य लेना चाहता है। एक दिन बात ही बात में उन्होंने यह बात चंड पर प्रगट कर दी।

राजमाता की बात सुनकर राजकुमार चण्ड के मन को बड़ा आघात पहुँचा। उसने उसी क्षण राज-माता से कहा, 'माँ, आपको सन्तुष्ट करने के लिए मैं चित्तौड छोड़कर जा रहा हूँ। लेकिन जब भी आपको मेरी सेवा की आवश्यकता हो, सूचित कीजियेगा। आपका सन्देश प्राप्त होते ही मैं चला आऊँगा।'

और सचमुच उसी दिन राजकुमार चण्ड ने चित्तौड़ छोड़ दिया।

चण्ड के चले जाने पर राजमाता ने जोधपुर से अपने भाई बोधाजी को राज्य का शासन-प्रबन्ध संभा-लने के लिए बुला लिया। इसके बाद खुद राव रण-

मल्ल भी अपने लाव-लश्कर के साथ चित्तौड़ आ गए।

कुछ ही समय में उनकी नीयत बदल गई और वे अपने दौहित्र को मारकर चित्तौड़ का राज्य हड़प लेने का षड्यंत्र रचने लगे। राजमाता को जब इस बात का पता चला, तो वे बहुत व्याकुल हो उठीं। क्योंकि उनकी साहयता को अब कोई भी न था।

कोई उपाय न देख उन्होंने चित्तौड़ को बचा लेने का आग्रह करते हुए चण्ड को पत्र लिखा, जो उस समय एक पड़ोसी राज्य के दरबार में थे।

राजमाता का सन्देश मिलते ही चण्ड अपने प्रयास में लग गये। और फिर एक दिन अचानक एक बड़ी सेना के साथ उन्होने चित्तौड़ पर धावा बोल दिया। रणमल्ल और बोधाजी ने उनका मुकाबला करने की असफल चेष्टा की। राव रणमल्ल अपने सहायकों सहित युद्ध-भूमि में मारे गये जबकि बोधाजी भाग गया।

इस तरह चण्ड ने चित्तौड़ को राठौरों के पंजे से मुक्त किया। राजमाता का अनुरोध मानकर वे चित्तौड़ में ही रह गये और आजीवन राणा मुकुल की सेवा में ही लगे रहे।

चण्ड के त्याग और पराक्रमी की कीर्तिमय गाथा आज भी राजस्थान के कोने-कोने में लोकगीतों के रूप में गूंजती है।

प्रताप

चित्तौड़ की उस वीरोचित भूमि में एक और महान् विभूति ने सन् १५४० में जन्म लिया। उस महान् विभूति का नाम था—प्रताप ! पिता चित्तौड़ के महाराणा उदयसिंह थे और प्रताप उनकी पहली सन्तान अर्थात् ज्येष्ठ पुत्र थे।

प्रताप कुछ ही बड़ा हुआ कि मेवाड़ राजवंश की परम्परा के अनुसार उसकी शिक्षा-दीक्षा आरम्भ हुई। बाल्यावस्था की देहरी न लाँघते-लाँघते प्रताप ने अस्त्र-शस्त्र व सैन्य-संचालन, आखेट तथा राज्योचित प्रबन्ध में पर्याप्त दक्षता प्राप्त कर ली।

तब तक राणा उदयसिंह के यहाँ और सन्तानों ने भी जन्म ले लिया था। जाने क्या बात थी कि राणा का सारा स्नेह व दुलार अपने कनिष्ठ पुत्र जगमाल के प्रति ही उमड़ा पड़ता था। यहाँ तक कि उन्होंने उसे अपने बाद राज्य का उत्तराधिकारी भी घोषित कर दिया था।

प्रताप पितृभक्त बालक था। उसने पिता के निर्णय का तनिक भी विरोध नहीं किया। उसके सामने रामायण के महान् मर्यादा पुरुषोत्तम राम के राज्य-त्याग और बनवास का आदर्श उपस्थित था।

बाल्यकाल से ही प्रताप को एक बात सदा खटकती रहती थी। वह यह कि भारत माता विदेशियों की दासता की हथकड़ी और बेड़ी मे सिसक रही थी। स्वदेश-मुक्ति की योजना पर विचार करता अक्सर वह किसी गहरे चिन्तन में डूब जाता।

प्रताप का मामा झालोड़ के राव अक्षयराज सदा बालक प्रताप के साथ साये की तरह लगे रहते। उन्हें आशंका थी कि कहीं ऐसा न हो कि प्रताप अन्त:पुर के षड्यन्त्रों के शिकार हो जायें और इस प्रकार स्वाधीनता की पवित्र यज्ञ वेदी का कार्य अधूरा ही रह जाये।

प्रताप अतिशय साहसी बालक था। मातृभूमि के प्रति निष्ठा, स्वाधीनता और वीरता का ओजस्वी लावा उसकी रग-रग मे भरा हुआ था। प्राय. संध्या के समय वह घोड़े पर सवार होकर राजमहल से निकल जाया करता। महाराणा कुंभा द्वारा निर्मित विजय-स्तंभ की वह बडे श्रद्धा व आदर से परिक्रमा करता। फिर घोडे

से उतर मेवाड़ की पवित्र धूल अपने मस्तक पर लगा
कर कहता, 'मैने वीर क्षत्राणी का दूध पिया है। मे
रक्त में महाराणा साँगा का ओज प्रवाहित है।
चित्तौड़ के विजय स्तम्भ, मैं स्वतन्त्रता और मातृभूमि
की शपथ लेकर तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम सद
उन्नत और सिसौदिया-गौरव के विजय-प्रतीक ब
रहोगे। जब तक मैं जीवित हूँ, शत्रु तुम्हें अपने स्पर्
से अपवित्र नहीं कर सकते।'



बालक प्रताप के लिए राणा साँगा का आद
मानों उसका सबसे बड़ा प्रेरणा-स्रोत तथा उनकी स्मृ
को श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ अक्सर वह क

करता था, 'मैं महाराणा सांगा के अधूरे कार्य को अवश्य पूरा करूँगा। उनके दिल्ली-विजय के स्वप्न को सत्य में रूपांतरित करना ही मेरे जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। वह दिन दूर नहीं, जब दिल्ली का अधिपति साँगा के वंशज से अपने प्राणों की भीख मांगेगा।'

एक दिन राजसभा लगी हुई थी। महाराणा उदयसिंह राजसिंहासन पर विराजमान थे। प्रताप भी उस समय वहीं था।

तभी खून से लथपथ दो गड़रियों ने वहाँ प्रवेश किया। उनमें एक युवक था तथा दूसरा वृद्ध। आते ही उन्होंने गुहार लगाई, 'दुहाई राणा सा की, थारे राज्य में हम लुट गये।'

राणा चौंके, 'लुट गये! कैसे लुट गये? किसने लूटा तुम्हें?'

हम लोग नगर के बाहर की पहाड़ियों पर अपनी भेड़ें चरा रहे थे।' युवक ने बताया, 'तभी आठ-दस मुसलमान सिपाही वहाँ आये और हमारी भेड़ों को हाँककर ले जाने लगे। हमने विरोध किया तो उन्होंने हमारे एक साथी को मार डाला और हम सबको घायल कर भेड़ें हाँक ले गए।'

महाराणा ने उसी क्षण सेनापति को उचित कार्र—



वाई करने का आदेश दिया। पर तभी प्रताप बोल उठा, 'आठ-दस मुगल सैनिकों के लिए सेनापति व सैनिकों को कष्ट देने की क्या आवश्यकता ? मैं ही देख लेता हूँ, क्या बात है !'

और किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये बगैर प्रताप उस युवक गड़रिये को साथ लेकर राजसभा से बाहर आया। उस युवक को अपने साथ ही उसने घोड़े पर बिठाया और उसके बताये मार्ग पर घोड़े को तीव्र वेग से दौड़ा दिया।

बात को बात में वह उस पहाड़ी पर जा पहुँचे जहाँ उस युवक गडरिये का एक साथी मृत पड़ा था तथा अन्य दो-तीन घायल थे। उन घायलों ने प्रताप को संकेत से बता दिया कि मुगल सैनिक किस ओर गये है। प्रताप ने युवक गड़रिये को घोड़े से उतारा और उनके द्वारा संकेत किए दिशा की रुख में घोड़े को तेजी से भगाया।

भेड़ों को हाँक कर ले जाते मुगल सैनिक पहाड़ी ढाल से उतरकर समतल मैदान पर आ गये थे। तभी उनके कानों में घोड़े के टापों की आवाज पड़ी। उन्होंने मुड़कर देखा तो पाया कि एक तरुण हाथ में नंगी तलवार लिए घोड़े पर सवार उस खतरनाक पहाडी ढाल पर

भी तीव्र गति से घोड़े को भगाता उनकी ओर बढ़ा आ रहा है।

अपनी-अपनी तलवारें खींचकर वे उस तरुण का मुकाबला करने को तैयार हो गए। संख्या में वे दस थे।

वहाँ पहुँचते ही प्रताप आँधी की तरह उन पर टूट पड़ा। वे दस थे, फिर भी बिजली की फुर्ती से उनके वारों को नाकाम करते हुए प्रताप ने पलक झपकते ही दो मुगल सिपाहियों को मार गिराया। पाँच मिनट बीतते न बीतते पाँच मुगल सिपाही धराशायी हो गए। प्रताप की तलवार को अपनी मौत का परवाना जान बाकी पाँच ने भागकर जान बचाने में ही अपनी खैरियत समझी।

तब तक वे गड़रिए भी प्रताप तक आ पहुँचे थे। प्रताप ने उनकी भेड़ें उन्हें सौंप दीं। प्रताप के इस अनुपम शौर्य को देखकर वे चकित से रह गए। उसकी वीरता की प्रशंसा कर और उसे ढेरों आशीष देते हुए उन्होंने कहा, 'कुंवरसा, देखना एक दिन चित्तौड़ आपकी वीरता पर गर्व करेगा और आप चित्तौड़ की आँख के तारे होंगे।'

प्रताप जब वापस दरबार में आया तो राणा ने गद्गद होकर उसे गले से लगा लिया।

यह प्रताप की वीरता ही थी जिसके कारण वीरता के प्रतीक के रूप में हिन्दी-शब्दावली में 'प्रतापी' शब्द जुड़ा। बचपन में ही प्रताप ने यह सिद्ध कर दिखाया कि बप्पा रावल की सन्तान का सिर किसी के आगे नही झुक सकता। बालक प्रताप ने राज्य प्राप्ति का नहीं, देश की बंधन-मुक्ति का व्रत लिया था।

जब दिल्ली में मुगल सम्राट अकबर गद्दीनशीन हुआ तो अधिकाँश राजपूत राजा-महाराजाओं ने न केवल उसकी आधीनता स्वीकार की बल्कि अपनी बहन-बेटी देकर उससे रिश्तेदारी भी कायम की, पर प्रताप असंख्य कष्टों को सहते हुए भी स्वाधीन रहे और अकबर द्वारा तरह-तरह के प्रलोभन दिए जाने पर भी उसकी आधीनता स्वीकार नहीं की।

मुगल सम्राट अकबर ने अपने दरबार के प्रवेश द्वार पर महाराणा प्रताप की एक आदम कद प्रतिमा लगा रखी थी। प्रतिदिन दरबार में प्रवेश करने के पूर्व वह उस प्रतिमा को झुककर सलाम करते थे।

एक बार एक ने पूछ लिया, 'जहाँपनाह, आप अपने दुश्मन को क्यों सलाम करते है?'

'दुश्मन है तो क्या हुआ।' अकबर ने कहा, 'है तो वीर। मैं अपने दुश्मन को नहीं बल्कि ऐसे वीर को सलाम करता हूँ जिसकी सानी इतिहास में कोई नहीं।

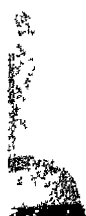
दुर्गादास

जोधपुर नरेश महाराज यशवन्त सिंह के पास उनकी सॉड़नियों (ऊँटनियों) के रक्षक ने यह सूचना पहुँचाई कि एक साधारण किसान के पुत्र ने एक साँड़नी को मार डाला है। महाराज ने आदेश दिया, 'उस किसान पुत्र को पेश करो।'

'हमने उस किसान पुत्र को पकड़ा नहीं महाराज!' सांड़नी रक्षक ने बताया।

'उसने राज सेना की एक सांड़नी को मार डाला और तुम लोगों ने उसे पकड़ा नहीं।' महाराज यशवंत सिंह ने आश्चर्य व्यक्त किया।

'हमने उसे पकड़ लिया था महाराज, पर उसने कुछ ऐसी जानकारी दी कि हमने उसे छोड़ दिया और आपसे इस सम्बन्ध में उचित कार्रवाई करने का आदेश लेने चले आये।'



'महाराज, उस बालक ने कहा कि—हम खेती जरूर करते हैं, पर हैं राठौर क्षत्रिय और हमारे पिता

राज सेना में सैनिक हैं ।'

'राज सेना में सैनिक ।' महाराज चौंके, 'क्या नाम बताया उसने अपने पिता का ?'

'जी, आसकरण राठौर ।'

'तुम पहले तो आसकरण को बुला लाओ ।' महाराज ने आदेश दिया, 'फिर उस बालक को पकड़कर यहाँ ले आओ ।'

'जो आज्ञा ।' कह साँड़नी रक्षक चला गया ।

कुछ ही देर में आसकरण नामक एक अधेड़ सैनिक महाराज के सामने आया और उसने झुककर महाराज का अभिवादन किया ।

'आसकरण, हमें पता नहीं था कि तुम खेती भी करते हो ।'

'आपसे किसने कहा महाराज ? मैं खेती नहीं करता ।'

महाराज यशवन्त सिंह ने तब साँड़नी रक्षक द्वारा बताई घटना आसकरण पर प्रगट की और पूछा, 'तो क्या वह बालक झूठ बोल रहा है ?'

'बात यह है महाराज कि वह बालक दुर्गादास मेरी पहली पत्नी से है, जिसे मैंने बरसों पहले ही छोड़ दिया है ।' आसकरण ने स्पष्ट किया, 'इसलिए वे जो कुछ

भी करते हैं, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं।'

तभी साँड़नी-रक्षक बारह वर्षीय बालक दुर्गादास को पकड़ लाया।

महाराज ने उससे डाँटकर पूछा, 'तुमने साँड़नी मारी ?'

निर्भयतापूर्वक दुर्गादास ने कहा, 'हाँ महाराज।'

'क्या तुम्हे मालूम था कि वह साँड़नी राज-सेना की थी ?'

'अच्छी तरह से महाराज।' उसने कहा, 'मैं अपने खेत की रक्षा कर रहा था। राज-सेना की साँड़नियों को आते देखकर मैने दौड़कर जाकर साँड़नी-रक्षक से साँड़नियों को उस ओर न लाने का आग्रह किया, लेकिन उसने मेरी बात पर ध्यान न दिया। अगर साँड़नियाँ हमारी फसल चौपट कर देती तो हम क्या खाते महाराज ? इसलिए जब एक साँडनी ने मेरे खेत की फसल में मुह डाला तो मैंने उसे मार दिया। इससे भयभीत होकर यह रक्षक और साड़नियों को उल्टे हाँक लाया और आपसे मेरी शिकायत कर दी।'

इतना छोटा बालक एक लम्बी-चौड़ी साँड़नी को एक ही वार में मार गिराये, महाराज यशवन्त सिंह को यह बात अविश्वसनीय-सी लग रही थी। अत·



उन्होंने पूछा, 'तुम तो इतने छोटे हो, फिर इतनी बड़ी सॉड़नी को कैसे मार दिया ?'

बालक दुर्गादास ने इधर-उधर देखा। उसी समय संयोग से एक सिपाही एक पखालिया ऊँट को लेकर दरवाजे के सामने से गुजरा। पलक झपकते ही दुर्गादास लपककर उस ऊँट के पास जा पहुँचा और कमर से तलवार खींचकर उसने उछलकर ऐसा हाथ मारा कि ऊँट की गर्दन कट गई और उसका सिर नीचे गिरकर लोटने लगा।

महाराज के पास आ दुर्गादास ने कहा, 'ऐसे मारा महाराज।'

महाराज यशवन्त सिंह उस बालक की वीरता पर बहुत प्रसन्न हुए। उसे उन्होंने अपने पास रख लिया। यही बालक आगे चलकर इतिहास प्रसिद्ध वीर दुर्गादास राठौर हुए। औरंगजेब जैसे क्रूर बादशाह से इन्होंने यशवन्त सिह की रानी तथा राजकुमार अजीत-सिह की रक्षा की। यवनों के पंजे से मारवाड़ के राज्य का उद्धार इन्होंने ही किया।

पृथ्वीसिंह

दिल्ली के मुगल बादशाह औरंगजेब के यहाँ उसके शिकारी जंगल से पकड़कर एक बड़ा भारी बबर शेर लाये थे। लोहे के सींखचों के पिंजरे में बन्द शेर बार-बार दहाड़ मार रहा था। उसके भीषण गर्जन से मानों चारों दिशायें काँप-काँप उठती थीं। अपने शिकारियों के मुंह से उस शेर की भयंकरता का बखान सुन खुद बादशाह औरंगजेब उसे देखने आये। सचमुच वे उसे देखकर बड़े प्रभावित हुए और बोले, 'इतना बड़ा और भयानक शेर दूसरा और हो ही नहीं सकता।'

बादशाह के चापलूस दरबारियों ने उनकी हाँ में हाँ मिलाई लेकिन उनके साथ आये महाराज यशवन्त सिंह ने कहा, 'इससे भी अधिक शक्तिशाली शेर मेरे पास है।'

अपनी बात काट दिये जाने पर बादशाह को यशवन्तसिंह पर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने उन्हें टेढ़ी निगाहों से घूरा, फिर कहा, 'कहाँ है तुम्हारा वह शक्ति-

शाली शेर ?'

'मेरे पास ही है जहाँपनाह !'

'ठीक है।' कल तुम अपने शेर को इस शेर से लड़ने के लिए छोड़ो। अगर तुम्हारा शेर हार गया तो तुम्हारा सर कलम कर लिया जायेगा।'

'मुझे मंजूर है।' यशवन्त सिंह ने बादशाह की बात स्वीकार कर ली।

दूसरे दिन दिल्ली के लाल किले के सामने के मैदान में लोहे के मोटे छड़ों का एक बड़ा भारी गोलाकार पिंजरा दो शेरों की लड़ाई के लिए बादशाह के खास हुक्म पर तैयार किया गया। दो भयंकर शेरों का मुकाबला देखने के लिए मानों पूरे दिल्ली की रियाया वहाँ उमड़ पड़ी।

ठीक समय पर आकर बादशाह औरंगजेब भी अपने सिंहासन पर बैठ गए। पर महाराज यशवन्त सिंह का अब तक पता न था। बादशाह और वहाँ उपस्थित भीड़ की आँखें यशवन्त सिंह को ही ढूँढ रही थीं। पास खड़ अपने सेनापति से बादशाह ने कहा, 'लगता है, अपनी हार के अंदेशे से डरकर यशवन्त सिंह नहीं आया।'

अभी उन्होंने अपनी बात समाप्त भी नहीं की थी

कि एक ओर से महाराज यशवन्तसिंह उन्हें उसी ओर लपकते आते दिखाई पड़े । उनके पीछे एक बारह वर्षीय बालक भी था, जो उनका पुत्र पृथ्वीसिंह था ।

पास आकर यशवन्त सिंह ने झुककर बादशाह को सलाम किया और कहा, 'आने में कुछ देर हुई, इसके लिए माफी चाहता हूँ ।'

'आपका शेर कहाँ है ?' बादशाह ने पूछा ।

'मैं अपना शेर अपने साथ लाया हूँ ।' यशवन्तसिंह ने मुस्कराकर कहा, 'आप लड़ाई शुरू करने का हुक्म तो दीजिए ।'

बादशाह ने अपने सिपाहियों को इशारा किया । इशारा पाते ही सिपाही उस पिंजरे को लोहे के बड़े गोलाकार पिंजरे तक धकेल लाये, जिसमें शेर बन्द था । फिर उन्होंने पिंजरे का द्वार खोल दिया । दहाड़ता हुआ शेर बड़े गोलाकार पिंजरे में कूद गया ।

यशवन्त सिंह ने पुत्र बालक पृथ्वीसिंह का कंधा थपथपाया और पिंजरे में प्रवेश करने का आदेश दिया ।

बादशाह तथा वहाँ उपस्थित जन-समुदाय हक्का-बक्का रह गया, उन्होंने देखा कि बारह वर्षीय पृथ्वीसिंह ने पिता को प्रणाम किया और फिर हँसते-हँसते उस बड़े गोलाकार पिंजरे में प्रविष्ट हो गया ।

शेर ने पृथ्वीसिंह की ओर देखा। उस तेजस्वी बालक के नेत्रों को देखते ही एकबारगी वह दुम दबाकर पीछे हट गया, लेकिन शिकारियों ने बाहर से भाले की नोंक से ठेलकर उसे उकसाया। तब शेर क्रोध से दहाड़ मारकर पृथ्वीसिंह पर कूद पड़ा। बालक पृथ्वीसिंह फुर्ती से एक ओर हट गया और उसने अपनी तलवार खींच ली।

पुत्र को तलवार निकालते देखकर यशवन्त सिंह चिल्ला पड़े, 'बेटा, यह तू क्या करता है ? शेर के पास तो तलवार है नहीं, फिर क्या तू उस पर तलवार चलायेगा ? यह तो धर्म युद्ध नहीं हुआ।'

पिता की बात सुनकर पृथ्वीसिंह ने तलवार फेंक दी और शेर पर टूट पड़ा। उस छोटे बालक ने कुछ ही क्षणों में शेर का जबड़ा पकड़कर फाड़ दिया और फिर शेर के पूरे शरीर को चीरकर दो टुकड़े कर फेंक दिया।

वहाँ उपस्थित जनता की भीड़ पृथ्वीसिंह की जय-जयकार करने लगी। शेर के खून से सना पृथ्वीसिंह जब पिंजरे से बाहर निकला तो यशवन्तसिंह ने दौड़कर उसे अपने सीने से लगा लिया।

बादशाह औरंगजेब का मस्तक नत हो गया था।

शिवाजी

आगे चलकर जिसे हिन्दू धर्म का संरक्षक छत्रपति होना था, उसके शैशव-काल में ही उसकी शिक्षा आरंभ हो गई थी। कठिनाइयाँ जीवन से संघर्ष करने की प्रेरणा देती हैं और शिवाजी का बाल्यकाल बड़ी कठिनाइयों में बीता। अपने जीवन की शिक्षा के प्रारम्भिक पाठ उसने उस समय की स्थिति और वातावरण से सीखे।

शिवाजी का जन्म सन् १६३० में शिवनेर के किले में हुआ था। उसके पिता शाहजी बीजापुर दरबार में नौकर थे। बीजापुर के नवाब की सेना के साथ एक बार जब शाहजी अहमदनगर की लड़ाई में उलझे हुए थे तो नवाब मालदार खान ने दिल्ली के बादशाह को खुश करने की गरज से बालक शिवाजी तथा उसकी माता जीजाबाई को सिंहगढ़ के किले में षड्यन्त्र रचकर बन्दी बनाने का प्रयत्न किया, लेकिन उसका यह दुष्प्रयास सफल न हो सका।



शिवाजी के बचपन के तीन वर्ष अपने जन्म-स्थान शिवनेर के किले में ही बीते। इसके बाद शत्रुओं के भय से माता जीजाबाई को अपने बालक के साथ एक किले से दूसरे किले में बराबर भागते रहकर आश्रय लेना पड़ा। इसके बावजूद उन कठिन परिस्थितियों में भी उस वीर माता ने अपने पुत्र की सैनिक-शिक्षा में कोई त्रुटि नहीं आने दी। माता जीजाबाई के सम्मुख एक लक्ष्य था, एक उद्देश्य था—मेरा पुत्र जननायक बने, राष्ट्र नायक बने।

माता जीजाबाई शिवाजी को रामायण, महाभारत तथा पुराणों की वीरगाथायें सुनाया करती थीं। उसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए उसने योग्य और हिन्दू विचार-धारा के शिक्षकों को नियुक्त किया था। हनुमंत, गोमाजी और त्रीमल शिवाजी के शिक्षक थे और उसके संरक्षक थे प्रचण्ड वीर दादा कोण्डदेव।

इस शिक्षा का परिणाम यह हुआ कि बहुत छोटी अवस्था में ही शिवाजी निर्भीक और अदम्य हो गया। जन्मजात शूर मावली बालकों की टोली बनाकर वह उनका नेतृत्व करता था और युद्ध के खेल खेला करता था। उसने बचपन में ही विधर्मियों से हिन्दू धर्म, देव मंदिर तथा गौओं की रक्षा करने का दृढ़-संकल्प लिया

था। अपनी आशा के अनुरूप शिवाजी के जीवन को राष्ट्रीय धारा में ढलते देख माता जीजाबाई प्रमुदित हो उठती थीं।

शाहजी चाहते थे कि उनका पुत्र भी बीजापुर दरबार का कृपा पात्र बने।

शिवाजी जब आठ वर्ष का था तभी एक दिन उसके पिता उसे अपने साथ शाही दरबार में ले गये। पिता ने सोचा था कि दरबार की साज-सज्जा, रौब-दाब, हाथी-घोड़े आदि देखकर बालक शिवाजी भी रौब में आ जायेगा और दरबार की ओर आकर्षित होगा, तब वे नवाब से आग्रह कर सहज ही अपने पुत्र को दरबार में ही कोई पद दिला सकेंगे।

लेकिन पिता के साथ दरबार में प्रवेश कर शिवाजी अपने चारों ओर देखे बगैर सीना तानकर इस तरह आगे बढ़ा, मानों वह किसी साधारण रास्ते पर चल रहा हो। नवाब के सामने पहुँचकर शाहजी ने उन्हें झुककर सलाम किया और फिर शिवाजी की पीठ पर हाथ फेरकर बोले, 'बेटा, ये हमारे नवाब हैं। इन्हें सलाम करो।'

बालक शिवाजी ने सलाम नहीं किया, बल्कि पलट-कर अपने पिता से कहा, 'ये आपके नवाब हो सकते

हैं, मेरे नहीं। मैं इनके आगे सर नहीं झुका सकता।'

शिवाजी के इस जवाब से दरबार में सनसनी फैल गई। नवाब का चेहरा क्रोध से तमतमाकर लाल हो उठा। उन्होंने घूरकर एकटक शिवाजी को देखा। उनसे नजरें मिलाते हुए शिवाजी ने अपनी पलकें तक न झपकाईं। शामत अपने सर आई समझकर शाहजी ने नवाब से नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हुए कहा, 'हुजूर, यह अभी नादान बालक है, कुछ समझता नहीं। मैं इसकी ओर से आपसे माफी मांगता हूँ। आप इसे माफ कर दें।'

नवाब ने गुर्राकर सिर्फ 'हूँ' की आवाज निकाली।

शाहजी ने बालक शिवाजी को घर लौट जाने की आज्ञा दी। शिवाजी ने पीठ फेरी और निर्भीकतापूर्वक मंद-मंद चलता हुआ दरबार से बाहर निकल गया।

उस दिन सध्या को जब शाहजी दरबार से घर लौटे तो शिवाजी को उसकी धृष्टता के लिए डांटना आरम्भ किया। शिवाजी बीच ही में बोल उठा, 'पिताजी, आप मुझे वहाँ ले ही क्यों गये थे? आप तो जानते ही हैं कि मेरा मस्तक तुलजा भवानी और माता-पिता को छोड़कर अन्य किसी के सामने नहीं झुक सकता।'

शाहजी निरुत्तर हो गये।

इस घटना के चार वर्ष बाद की बात है। उस समय शिवाजी की अवस्था बारह वर्ष की थी।

एक दिन शिवाजी बीजापुर के मुख्य मार्ग पर टहलता हुआ कहीं जा रहा था। तभी उसने देखा कि एक कसाई एक गाय को रस्सी से बाँधे खींचे लिये आ रहा है। गाय आगे जाना नहीं चाहती, डकराती है और इधर-उधर कातर नेत्रों से देखती है। कसाई उसे बार-बार डण्डे से पीट रहा है।

मुख्य मार्ग के दोनों ओर कई हिन्दुओं की दुकानें हैं। वे सब कुछ देखते हुए भी अनदेख बने सिर झुकाये बैठे हैं। मुसलमानी राज्य में रहकर वे कुछ बोलें भी तो कैसे बोलें। काम जघन्य और हिन्दू धर्म के विरुद्ध होने पर भी दखलंदाजी का हश्र वे अच्छी तरह जानते है।

मुसलमानी राज्य में गोवध आम बात है। और शिवाजी को समझते देर न लगी कि वह कसाई उस गाय को मारने के प्रयोजन से ही ले जा रहा है। उनकी भुजायें फड़क उठीं। वह बाज की मानिंद उस ओर झपटा।

लोगों की आँखें तब आश्चर्य से खुली की खुली रह गईं, जब उन्होंने देखा कि बालक शिवाजी के म्यान से

लवार निकलकर चमकी। एक बार में तो उसने ग
बंधन की रस्सी काट दी। रस्सी काटते ही ग
गुटुट एक ओर भाग चली। कसाई कुछ कह पाता
ावाजी की तलवार फिर कौंधी और कसाई का ि
ड़ से अलग होकर जमीन पर लोटने लगा।



एक हिन्दू बालक एक मुसलमान कसाई को
ाजार में मार गिराये! पूरे राज्य में कोहराम
या। मुसलमानों में उत्तेजना फैलने लगी और ि
ालक शिवाजी के साहस की प्रशंसा करते थे।
शवाजी को इन सब बातों की परवाह न थी।

आखिर यह खबर दरबार में भी पहुँची। न
ोध से लाल हो उठे। वह शिवाजी को सजाये-

देने पर आमादा हो गये। पर किसी तरह गिड़गिड़ाकर, मिन्नतें कर शाहजी ने मौत की सजा रद्द करवाई। नवाब ने कहा, 'पर तुम फौरन उसे बीजापुर राज्य से बाहर निकाल दो।'

शाहजी ने नवाब की आज्ञा मानकर शिवाजी को वापस उसकी माता के पास शिवनेर के किले में भेज दिया।

आखिर एक दिन ऐसा भी आया कि बीजापुर के नवाब ने स्वतन्त्र हिन्दू-सम्राट के नाते शिवाजी को अपने राज्य में निमंत्रित किया और जब शिवाजी हाथी पर सवार होकर बीजापुर के मार्गों से होते दरबार में पहुँचे तो खुद नवाब ने आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और झुककर उन्हें सलाम किया।



अजीत जुझार

सिखों के दसवें गुरु गोविंदसिंह आनंदपुर के किले में थे। उनके साथ जितने सिख-सैनिक थे, उससे लगभग बीस गुना बड़ी मुगल सेना ने किले को घेर रखा था। किले में जो भोजन सामग्री थी, वह लगभग समाप्त हो चली थी।

सिक्ख-सेना के सरदारों ने गुरुजी पर बार-बार दबाव डालना प्रारम्भ किया, 'आप बच्चों के साथ चुपचाप यहाँ से निकल जायें। देश को एवं जाति को विधर्मियों के अत्याचार से बचाने के लिए आपका बचे रहना जरूरी है।'

अपने साथियों के बहुत आग्रह करने पर एक दिन आधी रात को गुरुजी, अपनी माता, पत्नी तथा चार पुत्रों के साथ चुपचाप किले से निकल पड़े। लेकिन अभी वे सुरक्षित दूर तक पहुँच भी न पाये थे कि मुगल-सेना को पता लग गया।

शत्रु सेना के घुड़सवार और पैदल सैनिक मशालें

ले-लेकर इधर से उधर दौड़ने लगे। उन लोगों की इस भागा-दौड़ी का परिणाम यह हुआ कि गुरु गोविंद-सिंह जी, उनकी पत्नी, दो पुत्र अजीतसिंह और जुझार-सिंह एक ओर हो गये और गुरुजी की माता तथा दो छोटे पुत्र जोरावर सिंह और फतेहसिंह दूसरी ओर हो गए। वे लोग एक-दूसरे से बिछड़ गए।

गुरुजी सुरक्षित निकल जायें, यह सोचकर किले में जो सिक्ख-सैनिक थे, किले से निकलकर उन्होंने मुसलमान सेना पर आक्रमण कर दिया। रात के अंध-कार में भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया।

थोड़े से सिक्ख-सैनिक प्राण-पण से जूझ रहे थे। लेकिन मुगल सेना की कई टुकड़ियां बराबर गुरुजी का पीछा भी कर रही थीं। गुरुजी के साथ जो थोड़े-बहुत सैनिक थे वे मुगल सेना से लड़-भिड़कर हताहत हो चुके थे।

स्थिति विकट देख गुरुदेव के बड़े पुत्र अजीतसिंह से न रहा गया। वे अपने पिता के पास आये और उन्हें प्रणाम कर बोले, 'पिताजी, हमारे सैनिक हमारी रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे रहे हैं। ऐसी दशा में मृत्यु के मुँह में उन्हें झोंककर भागना नहीं चाहता। आप मुझे युद्ध करने की आज्ञा दे।'

पुत्र की बातें सुनकर गुरुजी ने उन्हें हृदय से लगाया और कहा, 'बेटा, तुम धन्य हो । अपने देश और धर्म के लिए मर मिटने वाले ही अमर हैं । जाओ, तुम अपने कर्त्तव्य का पालन करो ।'



अजीतसिंह मात्र आठ-दस सिक्ख-सैनिकों को साथ लेकर शत्रु-दल पर टूट पड़े । उनका आक्रमण शत्रु के लिए साक्षात् यमराज के आक्रमण के समान भयंकर सिद्ध हुआ । लेकिन बहुत बड़ी सेना के सामने आठ-दस सैनिक भला क्या कर सकते थे । सैकड़ों शत्रु सैनिकों को सुलाकर उन्होंने भी वीरगति प्राप्त की ।

बड़े भाई के युद्ध में काम आने पर उनसे छोटे जुझार सिंह ने गुरुजी को प्रणाम कर कहा, 'पिताजी, मुझे आज्ञा दीजिये, ताकि मै भी अपने बड़े भाई का अनुगामी बन सकूँ ।'

धन्य हैं वे पुत्र जो इस प्रकार देश और धर्म पर मरने को उत्सुक होते है और धन्य हैं वे पिता जो अपने पुत्रों को इस प्रकार आत्म-बलिदान देने का प्रसन्नता से आर्शीवाद देते है । गुरुजी ने जुझारसिंह को आशी-र्वाद देते हुए कहा, 'जाओ बेटा । देवता तुम्हारी प्रतीक्षा करते हैं । अमरत्व प्राप्त करो ।'

जुझारसिंह भी अपने थोड़े से बचे हुए साथियों को लेकर शत्रु-सेना पर टूट पड़े । थके, भूखे सिक्ख सैनिक और उनके नेता जुझारसिंह तो अभी बालक ही थे । किन्तु जब वे शत्रु से लड़ते-लड़ते युद्ध-भूमि में गिरे, उस समय तक शत्रु सेना के इतने सैनिक मारे जा चुके थे कि मुसलमान सेना का साहस गुरुजी का पीछा करते आगे बढ़ने का न हुआ और वे वापस लौट गये ।

प्रताप

यह कथा महाराणा प्रताप की नहीं है। यद्यपि जिस प्रताप की यह कथा है, वह भी चित्तौड़ का ही रहने वाला था। कोई राजपुत्र न होकर वह एक साधारण राजपूत बालक था। यह बात और थी कि उसमें राजपूतों जैसा जातीय गुण भी न था। राजपूतों को तीर-तलवार, युद्ध-हुँकार से विशेष लगाव होता है, इसके विपरीत प्रताप की रुचि गाने-बजाने और संगीत में थी।

प्रताप के माता-पिता और उसके मित्र उसके संगीत प्रेम के कारण उससे अप्रसन्न रहते थे। वे लोग उसे डांटते और चिढ़ाते हुए कहते थे, 'राजपूत की सन्तान होकर भी तुम अस्त्र-शस्त्र चलाना नहीं सीखते। देश पर जब संकट आयेगा तब तुम अपने कर्त्तव्य का कैसे पालन करोगे? देश की सेवा न करे, देश के लिए मर-मिटने को तैयार न हो, ऐसा राजपूत भी भला किस काम का?'

प्रताप उन लोगों से कहा करता था, 'देश की सेवा केवल तलवार से नहीं होती। संगीत से भी देश की सेवा हो सकती है। समय आने पर मैं दिखा दूँगा कि देश के लिए मर-मिटने में मै किसी से पीछे नहीं।'

प्रताप की बात किसी को ठीक न जँचती। वे लोग सोचते थे कि यह सुकुमार भले ही हो, पर डींग हाँकने वाला भी है। प्रताप भी अपनी धुन का ऐसा पक्का था कि किसी की बात पर कान न लगा वह अपनी संगीत-साधना में मस्त रहता।

दिल्ली में उन दिनों मुगल बादशाह शाहजहाँ की हुकूमत थी।

एक बार मुगलों की एक बहुत बड़ी सेना ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। लेकिन चित्तौड़ का किला इतना मजबूत और दुर्भेद्य था कि मुगल सेना सहज ही उस पर विजय न पा सकती थी। किले की दीवार या फाटक टूटते ही नहीं थे। बार-बार मुगल सेना को किले के भीतर के राजपूत वीरों के बाणों की मार खाकर पीछे भागना पड़ता था।

संकट की घड़ी जान चित्तौड़ में जितने भी शूर-वीर राजपूत थे, सभी महाराणा की सेना में भर्ती हो गए। लेकिन प्रताप एक तो बालक था और दूसरे उसे

अस्त्र-शस्त्र चलाना भी नहीं आता था। वह सेना में तो भर्ती न हुआ, पर उसने अपने लिए दूसरा काम चुन लिया।

प्रताप राजपूता सेना के बीच घूम-घूमकर वीरता के गीत गाता और उन्हें उत्साह दिलाता था। वह चित्तौड़ और उसके आस-पास की बस्तियों में भी अकेला चला जाता था और वहां अपने वीरता के गीत सुनाकर युवकों और तरुणों को सेना में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित करता था। उसके गीतों का यह प्रभाव हुआ कि कुछ ही समय में महाराणा की सेना दुगुनी हो गई।

एक दिन प्रताप जब किसी पास की बस्ती में सितार बजाकर गीत सुना रहा था, एक मुगल सैनिक ने छिपकर उसका गीत सुन लिया। जब प्रताप लौटने लगा, तब उस सैनिक ने प्रताप को पकड़ लिया और अपने सेनापति के पास ले आया। प्रताप को देखकर मुगल सेनापति बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा, 'लड़के तुझे हमारे लिए गीत सुनाना पड़ेगा।'

'मेरा काम ही गीत सुनाना है।' प्रताप बोला, 'आप जब कहें, मैं गाने को तैयार हूं।'

मुगल सेनापति ने रात को सेना सजाई। सेना को

साथ ले वह चित्तौड़ के किले के पास आया। किले के दरवाजे पर प्रताप को खड़ा कर उसने कहा, 'अब तू अपने गीत गा।'

मुगल सेनापति ने सोचा था कि प्रताप का गीत सुनकर किले के भीतर के लोग समझेंगे कि उनकी सहायता के लिए कोई दूसरी राजपूत सेना आई है। इस धोखे में वे किले का फाटक खोल देंगे। लेकिन प्रताप मुगल सेनापति की चाल समझ गया। उसने ऐसा गीत गाना प्रारंभ किया कि उसे सुनकर किले के राजपूत सावधान हो गए।

और तभी अचानक किले पर से मुगल सेना पर पत्थरों और तीरों की बौछार आरम्भ हो गई। बहुत से मुगल सैनिक मारे गये। आँखें तरेरकर मुगल सेनापति ने प्रताप से पूछा, 'लड़के, तू क्या गा रहा है?'

निर्भयतापूर्वक प्रताप ने कहा, 'मैं गीत में अपने वीरों से कह रहा हूँ कि शत्रु द्वार पर खड़ा है, सोओ मत। धोखे में मत आओ, किले के द्वार मत खोलो। पत्थर मारो, पत्थर! शत्रु का कचूमर निकाल दो।'

प्रताप की बात पूरी भी न हो पाई थी कि मुगल-सेनापति की तलवार चमकी। एक ही वार में उसने प्रताप का सर धड़ से अलग कर दिया।

लेकिन अब तक राजपूत सावधान हो गए थे। मुगल सेना को किले को जीतने और किले के अन्दर जाने का इरादा छोड़ मायूस होकर उल्टे पाँव वापस भागना पड़ा। पर भागते-भागते भी राजपूतों ने उनकी बड़ी दुर्गति की।

दूसरे दिन किले के दरवाजे के निकट प्रताप की लाश मिली। सभी राजपूतों की आँखों में आँसू भर आये। अपनी मातृभूमि के लिए अपने प्राणों की आहुति देने वाले उस वीर बालक की देह को स्वयं महाराणा ने अपने हाथों से चंदन की चिता पर रखा।

प्रताप ने यह सिद्ध कर दिखाया कि संगीत से भी देश की सेवा हो सकती है।

छत्रसाल

मध्य भारत में एक राज्य था—पन्ना । यहाँ के नरेश थे—महाराजा चंपतराव । वे बड़े वीर, धर्मनिष्ठ एवं स्वाभिमानी थे । वहाँ के सुख-वैभव की बातें सुन दिल्ली के मुगल बादशाह शाहजहाँ के मन में ईर्ष्या हुई और पन्ना पर अधिकार करने के लिए उन्होंने एक बहुत बड़ी सेना भेज दी ।

अपनी सीमित सेना द्वार बंदूक-बारूद और तोप से लैस विशाल शाही सेना का मुकाबला करना चंपत-राव को असम्भव जान पड़ा । उन्होंने सोचा कि इससे उनके निर्दोष सैनिकों का अकारण रक्तपात तो होगा ही, पन्ना को बचाने में भी वे सफल न हो पायेंगे । सो उन्होंने अपने वफादार सैनिकों पर अपना इरादा जाहिर करते हुए कहा कि वे इस समय इधर-उधर दुबक जायें और समय की प्रतीक्षा करें । स्वयं चंपत-राव अपने कुछ विश्वस्त अनुचरों और महारानी को लेकर पन्ना के निकट ही मोर पहाड़ी के जंगल में जा

छिपे ।

महारानी उस समय गर्भवती थी । समय आने पर जंगल में ही ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया विक्रम संवत् १७०६ को एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । उस समय शाहजहाँ की शाही सेना पन्ना के चारों ओर घेरा डाले हुए थी और उनके सिपाही उनकी तलाश कर रहे थे । विडम्बना की बात थी कि प्रथम पुत्र-रत्न की प्राप्ति पर भी महाराज इस भय से कोई उत्सव न मना सके कि कहीं शत्रुओं को उनके वहाँ छिपे होने की भनक न मिल जाये ।

बालक का नाम रखा गया—छत्रसाल !

एक बार तो शत्रु सेना के सिपाही उनके इतने निकट आ गये कि उन्हें अपने प्राण बचाने हेतु छिपने के लिए इधर-उधर भागना पड़ा । इसी भागम-भाग में शिशु छत्रसाल वहीं छूट गया । पर संयोग की बात कि शत्रु सैनिक उस शिशु के निकट से गुजर गए पर किसी की निगाह उस पर न पड़ी । कहा भी है—'जाको राखे साइयाँ, मार सके ना कोय ।'

महाराज चंपतराव ने तब गम्भीरता से विचार किया कि अगर शत्रु के सैनिक उन तक पहुँच गये तो उनके साथ वे उस अबोध शिशु को भी न बख्शेंगे और

इस तरह उनके वंश का एकमात्र दीप भी बुझ जायेगा। अत: उन्होंने महारानी को समझा-बुझाकर उनके पिता के यहाँ भेज दिया। चार वर्ष तक छत्रसाल का लालन-पालन अपनी ननिहाल में ही होता रहा।

इसके बाद परिस्थितियां कुछ सुधरीं और मुगल सैनिकों की सरगर्मियाँ कुछ कम हुईं तो महाराज चंपतराव महारानी व पुत्र को फिर अपने पास ले आये।

इसी समय दिल्ली में मुगल सम्राट शाहजहाँ की मृत्यु हो गई। मुगल सेना सैनिकों की दो-तीन टुकड़ी पन्ना मे तैनात कर दिल्ली वापस लौट गई। मौका सही जान महाराज चंपतराव ने अपने वफादार सैनिकों से सम्पर्क साधा और उन्हें संगठित किया। फिर उन्होंने पन्ना पर धावा बोल दिया। उनके वीर सैनिकों ने वीरता का अभूतपूर्व परिचय दिया। मुगल सेना भाग खड़ी हुई और पन्ना पर पुन: महाराज चंपतराव का अधिकार हो गया।

अपने पिता की तरह छत्रसाल भी शैशवावस्था से ही धर्मनिष्ठ था। एक बार, जब वह पांच वर्ष का था तब श्रीराम के मन्दिर में गया। वहाँ राम-लक्ष्मण की मूर्तियों को अपने जैसा बालक समझकर उसने उनके साथ खेलने की जिद की। कहा जाता है कि भगवान्

सचमुच वहाँ प्रगट हुए और उसके साथ खेले ।

पर छत्रसाल के भाग्य में पितृ-सुख नहीं था। जब वह सात वर्ष का था तभी महाराज चंपतराव का निधन हो गया। उनके दिवंगत होते ही उनके भाई यानि छत्रसाल के चाचा सुजानराव पन्ना के नरेश हुए। छत्रसाल पुन: अपनी माँ के साथ अपनी ननिहाल चले गए ।

मुगल सैनिक चंपतराव के हाथों पराजित होकर दिल्ली नहीं भागे थे बल्कि पन्ना की सीमा पर ही डेरा डालकर बैठे थे और मौका ताड़ रहे थे । अपनी पराजय का बदला लेने के लिए उन्होंने दिल्ली दरबार से और सेना भेजे जाने की गुजारिश भी की थी ।

तेरह वर्ष की अवस्था तक छत्रसाल अपनी ननिहाल रहा, फिर चाचा सुजानराव ने उसे पन्ना बुलवा लिया और उसकी सैन्य-शिक्षा का प्रबन्ध किया ।

छत्रसाल को पैतृक संपत्ति के रूप में अपने पिता का शौर्य प्राप्त हुआ था । कुछ ही समय में वह अस्त्र-शस्त्र-चालन और रण-कौशल मे निपुण हो गया ।

दिल्ली के सिंहासन पर औरंगजेब बैठ चुका था । उसके अत्याचार का दौर-दौरा सारे देश को आतंकित कर रहा था । छत्रसाल की अवस्था उस समय तेरह-

चौदह वर्ष की रही होगी।

इन्हीं दिनों पन्ना के निकट विंध्यवासिनी देवी के प्रसिद्ध मेले का उत्सव आया। इस मेले के उत्सव में सम्मिलित होने के लिए दूर-दूर से लोग आते थे और भगवती के दर्शन कर मेले के आनंदोत्सव में शामिल हो जाते थे।

इस उल्लास को निरखने और सुरक्षा की दृष्टि से भी स्वयं पन्ना नरेश वहाँ जाते और जब तक मेला रहता, तब तक वे भी अपना शिविर वहीं लगाकर रहते।

उस दिन युवराज छत्रसाल देवी की पूजा के लिए फूल चुनने डलिया लेकर वाटिका में पहुँचा। उसके साथ उसी की अवस्था के उसके साथी राजपूत बालक भी थे। फूल चुनते-चुनते वे कुछ दूर निकल गये।

तभी वहाँ कुछ घुड़सवार मुगल सैनिक आ गये। घोड़े से उतरकर उनके सरदार ने छत्रसाल से पूछा, 'विंध्यवासिनी का मन्दिर किधर है?'

'क्यों, क्या आप भी देवी की पूजा करना चाहते हैं?' किंचित आश्चर्य से छत्रसाल ने पूछा।

'देवी की ऐसी की तैसी।' सरदार मुँह बनाकर बोला, 'हम तो मन्दिर तोड़ने आये हैं।'

छत्रसाल ने फूलों की डलिया दूसरे बालक को पकड़ाई और हुँकारकर बोला, 'मुह सम्भालकर बात कर। अब अगर ऐसी बात तेरी जबान से निकली तो तेरी जबान खीच लूँगा।'

'क्या पिद्दी और क्या पिद्दी का शोबरा।' मुगल सरदार हँसकर बोला, 'तेरा तो कद ही मेरी तलवार जितना है बे, तू मेरा क्या कर लेगा ? तेरी देवी भी····'

लेकिन उसका वाक्य पूरा न हो सका। बिजली की फुर्ती से छत्रसाल ने अपनी तलवार निकालकर उसके सीने में घुसेड़ दी थी जो उसके पीठ की ओर निकल गई थी। बात की बात में पुष्प-वाटिका में युद्ध छिड़ गया। अकेला छत्रसाल छह मुगल सैनिकों का मुकाबला करने लगा। यह देख उसके साथी अपनी-अपनी तलवार लेने शिविर की ओर भागे।

शिविर में इस बात का पता चलते ही राजपूतों ने आनन-फानन कवच पहने और तलवार सम्भाली। पर शिविर से बाहर आते ही उन्होंने देखा कि युवराज छत्रसाल एक हाथ में रक्त-रंजित तलवार और दूसरे हाथ में फूलों की डलिया लिए मुस्कराते हुए चले आ रहे हैं। उनके वस्त्र भी रक्त के धब्बों से सराबोर हैं। अकेले छत्रसाल ने छहों मुगल सैनिकों को मार गिराया

था ।

महाराज सुजानराव ने छत्रसाल को अपने हृदय से लगा लिया । भगवती विंध्यवासिनी अपने सच्चे भक्त द्वारा आज इस शौर्य-पुष्प का अर्पणपाकर प्रसन्न हो उठी ।

आगे चलकर छत्रसाल ने अपने पिता के संकल्प को पूरा किया और पन्ना को मुगलों के आतंक से पूर्ण रूप से मुक्त कर दिया । पन्ना राज्य छत्रसाल को पाकर धन्य हो उठा ।

आज भी छत्रसाल की वीरता के गीत बुंदेलखण्ड में लोकगीतों के रूप में घर-घर गाये जाते हैं ।



उपमन्यु

महर्षि आयोदधौम्य अपनी विद्या, तपस्या और विचित्र उदारता के लिये बहुत प्रसिद्ध थे। वे ऊपर से तो अपने शिष्यों से बहुत कठोरता करते प्रतीत होते थे, किन्तु अन्तर से शिष्यों पर उनका अपार स्नेह था। वे अपने शिष्यों को अत्यन्त सुयोग्य बनाना चाहते थे। इसलिए जो ज्ञान के सच्चे पिपासु थे वे महर्षि के पास बड़ी श्रद्धा से रहकर उनकी सेवा करते हुए ज्ञानार्जन करते थे।

महर्षि के शिष्यों में से एक बालक का नाम था उपमन्यु। गुरुदेव ने उपमन्यु को अपने आश्रम की गायें चराने का कार्य सौंप रखा था। उस काल में गुरुओं के आश्रम में जो शिष्य विद्याध्ययन हेतु जाते थे उन्हें गुरुओं द्वारा सौंपे गये आश्रम के कार्य द्वारा गुरु की सेवा भी करनी होती थी।

उपमन्यु दिन भर वन में गायें चराता और जब शाम होती तो आश्रम लौट आया करता एक दिन

गुरुदेव के मन में उपमन्यु की निष्ठा की परीक्षा लेने की बात उठी। सो उन्होंने उपमन्यु से पूछा, 'बेटा उपमन्यु, आजकल तुम भोजन क्या करते हो ?'

उपमन्यु ने नम्रता से कहा, 'भगवान्, मैं भिक्षा माँगकर अपना काम चला लेता हूँ। अपने लायक भिक्षा भी पर्याप्त मिल जाती है।'

'वत्स।' महर्षि बोले, 'ब्रह्मचारी को इस प्रकार भिक्षा का अन्न नहीं खाना चाहिये। भिक्षा माँगकर जो कुछ मिले उसे गुरुदेव के सामने रख देना चाहिये।' फिर उसमें से गुरु अगर अपनी इच्छा से कुछ दें तब ही उसे ग्रहण करना चाहिये।'

उपमन्यु ने महर्षि की आज्ञा सहर्ष स्वीकार कर ली। अब वह भिक्षा माँगकर जो कुछ मिलता, उसे लाकर गुरुदेव के सामने रख देता। गुरुदेव को तो शिष्य की श्रद्धा को दृढ़ करना था, अतः भिक्षा में प्राप्त सारा अन्न वे रख लेते, उपमन्यु को उसमें से कुछ भी न देते।

कुछ दिनों बाद गुरुदेव ने उससे फिर पूछा, 'उपमन्यु, अब आजकल तुम क्या खाते हो ?'

'मैं एक बार भिक्षा का अन्न माँगकर आपको दे देता हूँ और अपने लिए दुबारा भिक्षा माँग लेता हूँ।' उपमन्यु ने बताया।

महर्षि बोले, 'दुबारा भिक्षा माँगना तो धर्म के
रुद्ध है। इससे गृहस्थों पर अधिक भार पड़ता है
ौर दूसरे भिक्षा माँगने वाले को भी संकोच होता
। इसलिये तुम दुबारा भिक्षा माँगने मत जाया करो।'



'जो आज्ञा।' सर झुकाकर उपमन्यु ने गुरुदेव की
वस्था स्वीकारी।

उस दिन के बाद उपमन्यु ने दूसरी बार भिक्षा
ाँगना बन्द कर दिया।

इसके कुछ दिनों बाद जब महर्षि ने उपमन्यु से
फर इस बारे में पूछा तो उसने कहा, 'मैं गायों का
ध पी लेता हूँ।'

'यह तो ठीक नहीं।' किंचित् अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए महर्षि बोले, 'गायें जिसकी होती है, उनका दूध भी उसी का होता है। उसकी अनुमति के बगैर गायों का दूध तुम्हें नहीं पीना चाहिये।'

उपमन्यु ने दूध पीना भी छोड़ दिया।

थोड़े दिन बीतने पर गुरुदेव ने पूछा, 'उपमन्यु तुम दुबारा भिक्षा भी नहीं लाते और गायों का दूध भी नहीं पीते, तो खाते क्या हो? तुम्हारा शरीर तो उपवास करने वाले जैसा दुर्बल नहीं दिखाई पडता।'

उपमन्यु ने बताया, 'भगवन्, बछड़ों के मुख से जो फेन गिरता है मैं उसे पीकर ही अपना काम चला लेता हूँ।'

'बछड़े बहुत दयालु होते हैं। वे स्वयं भूखे रहकर भी तुम्हारे लिए अधिक फेन गिरा देते होंगे।' महर्षि ने कहा, 'तुम्हारी यह वृत्ति भी उचित नहीं।'

अब उपमन्यु उपवास करने लगा। दिन भर बिना कुछ खाये गायों को चराते हुए उसे वन-वन भटकना पड़ता था। आखिर एक दिन जब भूख असह्य हो गई तो उसने आक के पत्ते खा लिए। उन विषैले पत्तों के विष का प्रभाव जब शरीर पर हुआ तो वह अन्धा हो गया। उसे कुछ भी दिखाई न पड़ता था। गायों के

खुरों की आवाज के सहारे ही वह उनके पीछे चलता आ रहा था। रास्ते में एक जल रहित कुआँ था। गायें तो उसके आसपास से गुजर गईं, पर पीछे आ रहा उपमन्यु उसमें गिर पड़ा।

जब अन्धेरा होने पर सब गायें लौट आईं और उपमन्यु नहीं लौटा, तब महर्षि को चिन्ता हुई। वे सोचने लगे, 'मैंने उस भोले बालक का भोजन सब प्रकार से बन्द कर दिया। कष्ट पाते-पाते दु:खी होकर वह भाग तो नहीं गया।'

महर्षि तब उसे जंगल में ढूँढ़ने निकले और बार-बार पुकारने लगे, 'बेटा उपमन्यु, तुम कहां हो?'

कुएँ में से उपमन्यु ने ऊँची आवाज में चिल्लाकर कहा, 'भगवन्, मैं यहाँ हूँ। कुएँ में गिर पड़ा हूँ।'

महर्षि उस कुएँ के निकट पहुँचे। उपमन्यु से सारी बात जानकर उन्होंने उसे आज्ञा दी कि वह ऋग्वेद के मंत्रों से अश्विनीकुमार की स्तुति करे।

स्वर के साथ श्रद्धापूर्वक जब उपमन्यु ने स्तुति की तब देवताओं के वैद्य अश्विनी कुमार वहां कुएँ में प्रगट हो गए। उन्होंने उपमन्यु के नेत्र अच्छे किये और उसे एक पुआ देकर खा लेने को कहा, लेकिन उपमन्यु ने गुरुदेव को अर्पित किये बगैर उसे खाना स्वीकार

नहीं किया । तब अश्विनी कुमार बोले, 'तुम संकोच मत करो । तुम्हारे गुरु ने भी अपने गुरु को अर्पित किये बगैर पहले हमारा दिया हुआ प्रसाद मानकर खा लिया था ।'

उपमन्यु ने कहा, 'वे मेरे गुरु हैं । उन्होंने कुछ भी किया हो, किन्तु मैं उनकी आज्ञा को टाल नहीं सकता ।'

इस गुरु भक्ति से प्रसन्न होकर अश्विनी कुमारों ने उसे आशीर्वाद दिया कि बिना पढ़े ही उसे समस्त विद्यायें आ जायें । इसके बाद उपमन्यु जब कुएँ से बाहर निकला तो महर्षि आयोदधौम्य ने अपने प्रिय शिष्य को हृदय से लगा लिया ।

ऋतुध्वज

परम पराक्रमी राजा शत्रुजित के पास एक दिन महर्षि गालव आये। महर्षि अपने साथ एक सफेद रंग का दिव्य अश्व भी लाये थे।

राजा ने महर्षि का विधिवत् स्वागत किया और पधारने का कारण पूछा।

तब महर्षि ने बताया, 'एक दुष्ट राक्षस अपनी माया से सिंह, बाघ, हाथी आदि वन-पशुओं का रूप धारण करके बार-बार आश्रम में आता है और बात की बात में पूरे आश्रम को नष्ट-भ्रष्ट कर जाता है।'

'आप उसे अपने तपो-तेज से समाप्त कर सकते हैं, भगवन्।'

'हाँ, मैं क्रोध कर उसे भस्म तो कर सकता हूँ, लेकिन ऐसा करने से मेरी तपस्या के तेज का ह्रास हो जायेगा। हम लोग बड़े कष्ट से जो तप करते हैं, उससे अर्जित पुण्य का इस तरह नाश नहीं कर सकते।'

'फिर उसे समाप्त करने का और क्या उपाय हो

सकता है ?'

'सारा उपाय करके ही में आपके पास आया हूँ ।' महर्षि ने साथ लाये घोड़े की ओर संकेत कर कहा, 'हमारे क्लेश को देखकर सूर्यदेव ने 'कुवलय' नामक इस घोड़े को हमारे पास भेजा है ।'

'सूर्यदेव ने अवश्य किसी उद्देश्य से ही इस घोड़े को आपके पास भेजा होगा ।'

'हाँ राजन् ! यह घोड़ा बिना थके पूरी पृथ्वी की परिक्रमा कर सकता है और जल, थल, नभ—तीनों में इसकी गति समान है। इस घोड़े को हमारे पास भेजने के साथ ही देवताओं ने कहा है कि इस घोड़े पर बैठकर आपके पुत्र ऋतुध्वज ही उस असुर का वध कर सकेंगे। इसीलिये मैं आपके पास आया हूँ। अब आप अपने राजकुमार को हमारे साथ भेजने का कष्ट करें। इस अश्व को पाकर वे संसार में कुशलयाश्व नाम से प्रसिद्ध होंगे ।'

'मेरे पुत्र ऋतुध्वज को धर्म एवं सत्कर्म की रक्षा के योग्य समझा गया, यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है।' राजा शत्रुजित ने कहा, 'मैं इसी वक्त कुमार को आपके साथ जाकर आश्रम की रक्षा करने का आदेश देता हूँ ।'

धर्मात्मा राजा ने उसी क्षण राजकुमार ऋतुध्वज
लाया और सारी बातें समझाकर उसे महर्षि के
जाने को कहा। धर्मरक्षा के प्रति निष्ठ व आतुर
कुमार सहर्ष इसके लिए तैयार हो गया। महर्षि
थ जाकर राजकुमार उनके आश्रम में ही निवास
लगे।



एक दिन मुनिगण जब संध्योपासना में लगे हुए थे
शूकर का रूप धारण करके वह नीच दानव मुनियों
सताने वहाँ आ पहुँचा। उसे देखते ही वहाँ रहने
मुनियों के शिष्य हल्ला मचाने लगे। शोरगुल
कर राजकुमार ऋतुध्वज चौकन्ना होकर उसी

ओर दौड़ा। वहां पहुँचकर उसने आतंकित मुनि-शिष्यों को और उस भयंकर बनैले सुअर को देखा। वास्त-विकता समझते उसे देर न लगी।

सुअर ने भी राजकुमार को देखा और तीर की तरह एक ओर को भाग चला। राजकुमार ऋतुध्वज तुरन्त कूदकर घोड़े पर सवार हो गये और कुवलय नामक घोड़े को उसी ओर दौड़ा दिया।

कुवलय आखिर देवलोक का घोड़ा था। देखते ही देखते तेजी से भागते उस सूअर रूपी असुर के निकट जा पहुँचा। तब राजकुमार ने अपने धनुष पर एक अर्ध चंद्राकार की नोंक वाला बाण लगाया और अचूक शर-संधान करते हुए असुर को बींध दिया। असुर बाण से घायल होकर और तेजी से भागा। पर राजकुमार ने उसका पीछा न छोड़ा और बराबर उसके पीछे लगा रहा। वनों, पर्वतों, झाड़ियों में जहां भी वह गया राजकुमार घोड़े से उसके पीछे लगा ही रहा।

आखिर तेजी से भागता हुआ वह राक्षस पृथ्वी पर बने एक बड़े से गड्ढे में कूद गया। राजकुमार भी उसी वेग से आया और घोड़े को उसने गड्ढे में कुदा दिया। वह पाताललोक पहुँचने का मार्ग था। उस अन्धकारपूर्ण गड्ढे में उतर राजकुमार कुछ ही

क्षणों में पाताल लोक पहुँच गया ।

स्वर्ग के समान सुन्दर पाताल में पहुँचकर ऋतुध्वज ने घोड़े को एक स्थान पर बाँध दिया और चारों ओर दृष्टि दौड़ाई ।

सामने राजमहल जैसा एक विशाल भवन था । राजकुमार उसी में प्रविष्ट हो गया । अलौकिक साज-सज्जा से युक्त उस जनरहित भवन के कई कक्षों को पार करता हुआ ऋतुध्वज एक ऐसे कक्ष में पहुँचा जहां एक अप्रतिम सुन्दर तरुणी को देखकर उसे चौंक जाना पड़ा । राजकुमार ने उससे पूछा कि 'वह कौन है और उस भवन मे कैसे है ?'

तब उस सुन्दरी ने बताया कि वह विश्वावसु नामक गंधर्वराज की कन्या है और उसका नाम मदालसा है । दानव व ज्रकेतु के दुष्ट पुत्र पातालकेतु ने स्वर्ग से उसका हरण किया था और यहाँ लाकर रखे हुए था । वह असुर उससे विवाह करना चाहता है ।

तब राजकुमार ऋतुध्वज ने मदालसा को बताया कि किस तरह उसने पातालकेतु को अपने बाण से छेद डाला है और उसकी खोज में ही वहाँ पहुँचा है । यह सुनकर मदालसा प्रसन्नता से झूम उठी । और यह

जानकर कि ऋतुध्वज राजपुत्र है तथा धर्म परायण राजा शत्रुजित का पुत्र है उसने पति के रूप में उसका वरण कर लिया ।

इधर राजकुमार ऋतुध्वज ने मदालसा से विवाह कर लिया और उधर पातालकेतु तक यह खबर जा पहुँची । वह अपने अनुयायी दानवों की एक बड़ी फौज साथ ले क्रोध से भरा ऋतुध्वज का संहार करने चल पड़ा ।

वहाँ पहुँचते ही असुरों ने राजकुमार पर अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा प्रारम्भ कर दी । लेकिन राजकुमार ने हँसते हुए उनके सारे अस्त्र-शस्त्र अपने बाणों से काट डाले । फिर त्वाष्ट्र नामक दिव्यास्त्र का प्रयोग कर उसने सभी दानवों को एक ही क्षण में नष्ट कर दिया । जैसे महर्षि कपिल की क्रोधाग्नि में सगर के साठ हजार पुत्र भस्म हो गये थे, वैसे ही उस दिव्यास्त्र की ज्वाला में सभी दानव भस्म हो गये ।

मदालसा को साथ ले कुवलय अश्व पर सवार हो राजकुमार पाताल से बाहर निकल आया । फिर वह आश्रम पहुँचा । मुनिगणों को पातालकेतु के वध का शुभ समाचार दे और उनका आशीर्वाद ले वह अपने राज्य की ओर चल पड़ा ।

उद्देश्य की पूर्ति कर अपने पुत्र को विजयी होकर आया देख उसके पिता राजा शत्रुजित को बड़ा हर्ष हुआ।

आगे चलकर जब ऋतुध्वज राजा बना तो 'कुवलयाश्व नरेश' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी पत्नी मदालसा भी परम-तत्त्व की ज्ञाता थी। उसने ही अपने पुत्रों को गोद में लोरी सुनाते-सुनाते ब्रह्मज्ञान दिया था।

बर्बरीक

पाण्डुनंदन महावीर भीमसेन ने अपने आज्ञातवास के काल में हिड़िम्बा नामक राक्षसी से विवाह किया था और उससे घटोत्कच नामक उनके एक अतुल पराक्रमी पुत्र हुआ था। भगवान श्रीकृष्ण के आदेश से घटोत्कच ने भौमासुर के नगरपाल मुर दानव की परम-सुन्दरी कन्या कामकटकटा से विवाह किया। घटोत्कच को मुर-कन्या से बर्बरीक नामक पुत्र की प्राप्ति हुई।

बालक बर्बरीक जन्म से ही विनयी, धर्मात्मा एवं वीर था। उसे साथ लेकर घटोत्कच द्वारका गया और वहाँ उसने भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में पुत्र के साथ प्रणाम किया। बर्बरीक ने हाथ जोड़कर भगवान से प्रार्थना की, 'आदिदेव माधव, संसार में जीव का कल्याण किस प्रकार होता है ? कोई धर्म को कल्याणकारी बताते हैं तो कोई धन, दान, तप, मोक्ष और भोगों को। प्रभु, इन सैकड़ों उपाय में से जो उपाय मेरे कुल के उपयुक्त और श्रेष्ठ हो, उसका उपदेश आप मुझे करें।'

तब भगवान बोले, 'बेटा, जो जिस कुल और वर्ण में पैदा हुआ है, उसके कल्याण का साधन उसी के अनुरूप निर्धारित है। ब्राह्मण के लिए तप, इंद्रिय संयम तथा स्वाध्याय कल्याणकारी है।। क्षत्रिय के लिए प्रथम साध्य बल है, क्योंकि बल के द्वारा ही वह दुष्टों का दमन एवं साधुओं का रक्षण कर अपना कल्याण करता है। तुम क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए हो, इसलिये पहले तुम अतुलनीय बल की प्राप्ति का उद्योग करो। भगवती शक्ति की कृपा से ही बल की प्राप्ति होती है, अतः तुम्हें शक्तिरूपा देवियों की आराधना करनी चाहिये।'

बर्बरीक के पूछने पर भगवान ने उसे महीसागर संगम तीर्थ में जाकर देवर्षि नारद द्वारा लाई गई नवदुर्गाओं की आराधना का आदेश दिया।

बर्बरीक ने भगवान की आज्ञा का पालन किया। तीन वर्ष की आराधना के बाद देवियाँ प्रसन्न हुईं। उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन देकर उसे वरदान दिया कि तीनों लोकों में जो बल किसी में नहीं ऐसा अतुलनीय बल उसे प्राप्त हो। वरदान देकर उन्होंने कहा, 'पुत्र, तुम कुछ समय तक यहीं निवास करो। यहां विजय नामक एक ब्राह्मण आयेंगे, उनके संग से तुम्हारा और अधिक

कल्याण होगा।'

देवियों की आज्ञा मानकर बर्बरीक वहीं रहने लगा।

कुछ समय बाद मगध देश के विजयी नामक ब्राह्मण वहाँ आये। उन्होंने कुमारेश्वर आदि सहित सात शिवलिंगों का पूजन किया और विद्या की सफलता के लिए बहुत दिनों तक देवियों की आराधना की। स्वप्न में देवियों ने उन्हें आदेश दिया 'तुम आंगन में सिद्धमाता के सामने अपनी सम्पूर्ण विद्याओं की साधना करो। हमारा भक्त बर्बरीक तुम्हारी सहायता करेगा।'

प्रातःकाल विजय ने भीमसेन के पौत्र बर्बरीक से कहा, 'तुम निद्रारहित एवं पवित्र होकर देवी के स्तोत्र का पाठ करते हुए यहीं रहो, जिससे जब तक मैं अपनी विद्याओं की साधना करूँ तब तक कोई विघ्न न हो।'

विजय अपनी साधना में एकाग्रचित्त हो लीन हो गए और बर्बरीक उनकी सावधानी से रक्षा करता खड़ा रहा। और विजय की साधना में विघ्न पहुँचाने वाले रेपलेंद्र नामक महादानव तथा द्रुहा नामक राक्षसी का संहार किया। इसके बाद पाताल में जाकर नागों को पीड़ा देने वाले पलासी नामक भयानक असुरों को

रौंदकर यमलोक भेज दिया। इससे प्रसन्न होकर नाग-राज वासुकि ने बर्बरीक से वर माँगने को कहा। बर्बरीक ने केवल यह वर माँगा, 'विजय निर्विघ्न साधन करके सिद्धि प्राप्त करें।'

कई नाग कन्याओं ने, बर्बरीक के अतुल पराक्रम के प्रति मुग्ध होकर, उससे विवाह का प्रस्ताव रखा किन्तु जितेन्द्रिय बर्बरीक ने विनम्रतापूर्वक उनका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उसने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत ले रखा था।

जब बर्बरीक पाताल से लौटा तो विजय ने उसे हृदय से लगा लिया। उस सिद्ध पुरुष ने कहा, 'वीरेंद्र, मैंने तुम्हारी अनुकम्पा से ही सिद्धि प्राप्त की है। मेरे हवन कुण्ड में सिदूर के रंग की परम पवित्र भस्म है, उसे तुम हाथ में भरकर ले लो। युद्धभूमि में इसे छोड़ देने पर साक्षात् मृत्यु भी अगर शत्रु बनकर आ जाये तो उसे भी मरना पड़ेगा। इस प्रकार तुम शत्रुओं पर सरलता से विजय प्राप्त कर सकोगे।'

तब बर्बरीक ने कहा, 'उत्तम पुरुष वही है जो निष्काम भाव से किसी का उपकार करता है, जो किसी वस्तु की इच्छा रखकर उपकार करता है, उसकी सज्जनता में भला क्या गुण है ? यह भस्म आप किसी

और को दे दें। मैं तो आपको सफल एवं प्रसन्न देखकर ही प्रसन्न हूँ।'

विजय को देवताओं ने सिद्धैश्वर्य प्रदान किया। उनका नाम सिद्धसेर हो गया। वे वहाँ से चले गये।

इसके कुछ काल बाद पाण्डव लोग वनों एवं तीर्थों में घूमते हुए उस तीर्थ में पहुँचे। पाँचों पाण्डव और द्रौपदी बहुत थके हुए थे। चण्डिका देवी का दर्शन कर वे वहाँ बैठ गये।

बर्बरीक भी उस समय वहीं था। पर पाण्डवों ने न तो कभी बर्बरीक को देखा था और न बर्बरीक ने पाण्डवों को, अतः वे एक-दूसरे को न पहचान सके। प्यास से व्याकुल भीमसेन जल पीने कुण्ड की ओर जाने लगे तो युधिष्ठिर ने उन्हें समझाते हुए कहा, 'पहले जल लेकर कुण्ड से दूर हाथ-पैर धो लो, तब जल पीना।'

किन्तु प्यास से व्याकुल भीमसेन ने युधिष्ठिर की बात अनसुनी कर दी और जल में ही उतरकर हाथ-पाँव धोने लगे। उन्हें ऐसा करते देख बर्बरीक ने डांटकर कहा, 'तुम देवी के कुण्ड में हाथ-पैर धोकर उसे दूषित कर रहे हो। मैं सदा इसी जल से देवी को स्नान कराता हूँ। जब तुममें इतनी भी समझ नहीं तो क्यों

व्यर्थ में तीर्थों में घूमते-फिरते हो।'

'जल स्नान के लिए है और तीर्थों में स्नान करने की आज्ञा है।' भीम ने गरजकर कहा।

'जिनका जल बहता रहता है, ऐसे ही तीर्थों में जल में उतरकर स्नान करने का प्रावधान है।' बर्बरीक ने स्पष्ट किया, 'कूप-सरोवर आदि से जल लेकर बाहर स्नान करना चाहिये, ऐसा शास्त्र का विधान है। जो ऐसे जल में उतरकर मल, मूत्र, कफ, थूक, विष्ठा और कुल्ला छोड़ते हैं, वे ब्रह्महत्यारे के समान हैं।'

इस पर भी जब भीमसेन ने उसकी बात पर कोई ध्यान न दिया तो बर्बरीक ने एक ईंट का टुकड़ा उठाकर उन्हें मारा। बर्बरीक के फेंके ईंट के टुकड़े का बार बचाकर भीमसेन जल से बाहर निकल आये और उससे भिड़ गये।

दोनों ही महाबली थे, अतः जमकर मल्ल युद्ध होने लगा। पर दो घड़ी में ही भीमसेन कमजोर पड़ने लगे। बर्बरीक ने दोनों हाथों से उन्हें अपने सर के ऊपर उठा लिया और समुद्र में फेंकने के लिए चल पड़ा।

ऐसी नाजुक स्थिति में भगवान शंकर आकाश में प्रगट हुए और कहा, 'राक्षस श्रेष्ठ, इन्हें छोड़ दो। ये भरत कुल के रत्न तुम्हारे पितामह पाण्डुनंदन भीमसेन

हैं । ये तुम्हारे द्वारा आदर किये जाने योग्य हैं ।'

यह सुनकर बर्बरीक ने भीमसेन को छोड दिया और उनके चरणों पर गिर पड़ा । वह स्वयं को धिक्कारने, फूट-फूटकर रोने और बार-बार क्षमा माँगने लगा । उसे अत्यन्त व्याकुल होते देख भीमसेन ने उसे छाती से लगा लिया और सांत्वना देते हुए बोले, 'बेटा, तुम्हारा कोई दोष नहीं है । भूल हमसे हो हो रही थी । कुमार्ग पर चलने वाला कोई भी हो, क्षत्रिय को उसे दण्ड देना ही चाहिए । मैं बहुत प्रसन्न हूँ । मेरे पूर्वज धन्य हैं किजिनके कुल में तुम्हारे जैसा धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न हुआ है । तुम सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसनीय हो । अतः तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ।'

बर्बरीक का शोक इससे मिटा नहीं । वह बोला, 'मैं प्रशंसा के योग्य नहीं । सब पापदों का प्रायश्चित है किन्तु जो माता-पिता का भक्त नहीं, उसका उद्धार नहीं होता । जिस शरीर से मैने अपने पूज्य पितामह का अपराध किया है, उसे आज महीसागर-संगम में त्याग दूँगा, जिससे दूसरे जन्मों में मुझसे ऐसा अपराध न हो ।'

वह समुद्र के किनारे पहुँचा और कूदने को उद्यत हो गया । तब सिद्धाम्बिका तथा चारों दिशाओं की

देवियाँ भगवान रुद्र के साथ वहाँ आई। उन्होंने बर्बरीक को समझा कर आत्महत्या करने से रोका। उनके रोकने पर उदास मन से वह लौट आया। उसके पराक्रम को देखकर पाण्डवों को बड़ा आश्चर्य व प्रसन्नता हुई। उन्होंने बर्बरीक की प्रशंसा की।

जब पाण्डवों के बनवास की अवधि समाप्त हो गई और दुरात्मा दुर्योधन ने उनका राज्य लौटाना स्वीकार नहीं किया, तब कुरुक्षेत्र के मैदान में महाभारत-युद्ध की तैयारी होने लगी। युद्ध के प्रारम्भ में महाराज युधिष्ठिर ने अर्जुन से अपने पक्ष के महारथियों की शक्ति के विषय में प्रश्न किया। सबके पराक्रम की प्रशंसा कर अर्जुन ने अन्त में कहा, 'मैं अकेला ही कौरव सेना को एक दिन में नष्ट करने में समर्थ हूँ।'

यह सुनकर बर्बरीक से न रह गया। उसने कहा, 'मेरे पास ऐसे दिव्य अस्त्र-शस्त्र एवं पदार्थ हैं कि मैं एक मुहूर्त्त में ही सारी कौरव सेना को यमलोक भेज सकता हूँ।'

'बेटा!' श्रीकृष्ण ने पूछा, 'तुम भीष्म, द्रोण आदि से रक्षित कौरव सेना को एक मुहूर्त्त में कैसे मार सकते हो?'

भगवान की बात सुनकर अतुल बली बर्बरीक ने अपना भयंकर धनुष चढ़ा लिया और उस पर एक बाण रखा। उस पोले बाण को लाल रंग से भरकर, कान तक खींचकर उसने छोड़ दिया। उसके बाण से उड़ी लाल रंग की भस्म दोनों सेनाओं के सैनिकों के मर्म-स्थल पर जाकर गिरी। केवल पाण्डवों, कृपाचार्य व अश्वत्थामा के शरीर पर वह नहीं पड़ी।

तब बर्बरीक बोला, 'आप लोगों ने देख लिया कि मैंने इस क्रिया से मरने वाले वीरों के मर्मस्थान का निरीक्षण किया है। अब देवी के दिये तीक्ष्ण बाण उनके उन मर्मस्थानों में मारकर उन्हें सुला दूंगा। आप लोगों को धर्म की सौगंध है, कोई शस्त्र न उठाये। मैं दो घड़ी में ही शत्रुओं को मारे देता हूँ।'

बर्बरीक अतुल बली, धर्मात्मा और विनयी था, किन्तु इस अहंकारवश उसने धर्म की मर्यादा तोड़ दी। दोनों सेनाओं में अनेक वीरों को देवताओं ऋषियों आदि से वरदान प्राप्त थे। उन सब वरदानों ने व्यर्थ होने से देवता, धर्म एवं तप की मर्यादा ही नष्ट हो जाती। धर्म की मर्यादा की रक्षार्थ अवतार धारण करने वाले श्रीकृष्ण ने बर्बरीक की बात सुनकर अपने चक्र से उसका सर काट दिया।

बर्बरीक के मरने पर सब लोग भौंचक्के रह गये। पाण्डव शोक में डूब गये। घटोत्कच मूच्छित होकर गिर पड़ा। उसी समय वहाँ चौदह देवियां आई। उन्होंने बताया, 'पूर्वजन्म में बर्बरीक सूर्यवर्चा नामक यक्ष था। देवता ब्रह्माजी के साथ जब पृथ्वी का भार उतारने के लिए मेरु पर्वत पर भगवान नारायण की स्तुति कर रहे थे, तब अहंकारवश उस यक्ष ने कहा था—'पृथ्वी का भार तो मैं ही दूर कर दूँगा।' उसके गर्व के कारण रुष्ट होकर ब्रह्माजी ने शाप दे दिया कि भूमि का भार दूर करते समय भगवान उसका वध करेंगे। ब्रह्माजी के उस शाप को सत्य करने के लिए ही भगवान श्रीकृष्ण ने बर्बरीक को मारा।'

भगवान के आदेश से देवियों ने बर्बरीक के सिर को अमृत से सींचकर राहु के सिर के समान अजर-अमर बना दिया। उस सिर ने युद्ध देखने की इच्छा प्रगट की, अतः भगवान ने उसे एक पर्वत पर स्थापित कर दिया और जगत में पूज्य होने का वरदान दिया।

महाभारत युद्ध के अन्त में धर्मराज युधिष्ठिर भगवान के बार-बार कृतज्ञ हो रहे थे कि उनके अनुग्रह से ही उन्हें युद्ध में विजय प्राप्त हुई। इस पर भीमसेन ने सोचा, 'धृतराष्ट्र के पुत्रों को तो मैंने मारा

है, फिर धर्मराज श्रीकृष्ण की इतनी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं ?'

भीमसेन ने जब अपने मन की बात प्रगट की तो अर्जुन ने उन्हें समझाया, 'भीष्म, द्रोण आदि ये त्रिलोक जयी शूर मेरे आपके द्वारा नहीं मारे गये। हम तो निमित्त मात्र हैं। युद्ध में विजय तो किसी अज्ञात पुरुष के द्वारा हुई, जिसे मैं सदा अपने आगे-आगे चलता देखता था।'

अर्जुन की बात सुनकर भीमसेन हँस पड़े। उन्हें लगा कि अर्जुन को भ्रम हो गया है। ठीक निर्णय जानने के लिए वे अर्जुन और श्रीकृष्ण के साथ पर्वत पर गये और बर्बरीक के सिर से पूछा, 'बेटा, तुमने पूरा युद्ध देखा है। बताओ कि युद्ध में कौरवों को किसने मारा है।'

बर्बरीक ने कहा, 'मैंने तो शत्रुओं के साथ केवल एक व्यक्ति को युद्ध करते देखा है। उसके बाईं ओर पाँच मुख थे और दस हाथ थे, जिसमें त्रिशूल, धनुष, गदा, तलवार आदि वह धारण किये था। दाहिनी ओर एक मुख और चार भुजायें थीं, जिनमें चक्र आदि अस्त्र-शस्त्र थे। बाईं ओर उसकी जटायें थीं और ललाट पर चन्द्रमा शोभित हो रहे थे तथा अंग में

भस्म लगा हुआ था। दाहिनी ओर मस्तक पर मुकुट झलमला रहा था, अंगों में चन्दन लगा था और कंठ में कौस्तुभ मणि शोभा दे रहा था। उस व्यक्ति को छोड़कर मैंने कौरव सेना का नाश करने वाले अन्य किसी और व्यक्ति को नहीं देखा।'

बर्बरीक ने इतना कहते ही आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी। भीमसेन लज्जित होकर भगवान श्रीकृष्ण से बारम्बार क्षमा-याचना करने लगे। भगवान तो क्षमा के सागर हैं ही। उन्होंने हँसकर भीमसेन को गले लगा लिया।

इसके पश्चात् भगवान ने बर्बरीक के सिर के पास जाकर कहा, 'तुम्हें इस क्षेत्र का त्याग नहीं करना चाहिये।'

नारद

पूर्वजन्म में नारद वेद पढ़ाने वाले ब्राह्मणों की दासी के गर्भ से पैदा हुए थे। अपनी माता की वह एकमात्र सन्तान था। माता उसे बहुत प्यार करती थी।

उसकी माता अधम स्त्री थी इसलिए हीन बुद्धि की थी। उसे दूसरों की सेवा से ही फुरसत नहीं मिलती थी। पुत्र के अलावा दूसरा कोई उस अबला का सहारा न था इसलिये वह उसे बहुत चाहती थी, लेकिन उसकी देख-रेख के लिए उसे समय न मिलता था। वह पराधीन थी, अपने और पुत्र का भोजन जुटाने के लिए उसका सारा दिन सेवा में ही बीत जाता था। दूसरों के आदेश-उपदेश पर चलने वाली वह स्त्री सब प्रकार से अक्षम थी। अपने पुत्र के लिए उसका सारा स्नेह दिल ही दिल में उमड़कर रह जाता था।

वर्षाकाल के चार महीने ऋषिगण चातुर्मास-व्रत

ग्रहण कर एक जगह एकत्रित होते थे। माता ने एक बार बालक नारद को उनकी सेवा में लगा दिया। बचपन का लोभ, चंचलता और खिलवाड़ छोड़कर वह ऋषियों की सेवा में रत रहकर ही अपना सारा समय गुजारने लगा। ज्यादा बातचीत; ढिठाई—यह कुछ वह बालक न करता था, इससे ऋषिगण किसी तरह का पक्षपात न रखने पर भी बालक नारद को बहुत प्यार करते थे।

एक दिन ऋषियों की आज्ञा से उनके पत्तलों की जूठन बालक ने पाई। उसी दिन से उसका पाप दूर हो गया। क्रमशः चित्त शुद्धतर होता रहा और उनके किये हुए धर्म की तरफ उसका ध्यान गया, नई इच्छा पैदा हुई।

ऋषिगण प्रतिदिन भजन करते और बालक नारद बैठा हुआ सुनता रहता। ऋषियों की पवित्र वाणी में भगवद् भजन सुन-सुनकर बालक के मन में नारायण के प्रति अनुराग पैदा हुआ। उसी समय सहसा उसे भान हुआ कि पंचभूतों से अलग वह स्वयं साक्षात् ब्रह्म है। अभी तक अपनी अविद्या के कारण वह स्वयं को साधारण शरीर वाला जीव ही समझता रहा।

वर्षा और शरद के तीनों संधिकाल में ऋषिगण

भगवद् भजन किया करते, जिसे सुन-सुनकर नारद का मन भक्ति की भावना से उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया। इससे बालक के मन के रज और तम वाले भाव दूर हो गये। वह पूरी तरह पाप से रहित, भक्ति और श्रद्धा से युक्त, विनयी हो गया और ऋषियों की सेवा करता रहा।

वर्षाकाल समाप्त होने पर तपस्वीगण चलने लगे तो बालक को गूढ ज्ञान बतला गये, जिसके बल से बालक विश्व-सृष्टा भगवान विष्णु की माया से परिचित हुआ। ईश्वर की माया का ज्ञान होने पर मनुष्य साक्षात् ईश्वर जैसा गौरव प्राप्त करता है।

बालक नारद को जब यह ज्ञान मिला तब उसकी आयु केवल पाँच वर्ष की थी। वह दिन-रात इसी चिंता में रहता कि माता के मोह से उसे कब छुटकारा मिले। कुछ काल इसी तरह व्यतीत हो गया।

एक रात उसकी माता ब्राह्मणों की गाय दुहने के लिये गई। उसके रास्ते में काल-रूप आया हुआ एक काला नाग पड़ा था। उसका पैर उस पर पड़ गया। यद्यपि पैर बहुत हल्का पड़ा था फिर भी नागदेव ने उसे क्षमा न किया। चोट कर दी। विष की ज्वाला से दग्ध होकर शीघ्र ही उस दुःखिनी ने प्राण त्याग

दिये ।

माता की मृत्यु से बालक नारद को तनिक भी दुःख न हुआ । कारण, उसके ज्ञान की आँखें खुल चुकी थीं । उसने सोचा, भगवान विष्णु ने इस छल से माता को लेकर उसकी साधना का मार्ग प्रशस्त कर दिया है । बालक ब्राह्मणों का आश्रय छोड़कर उत्तर की ओर चला ।



कितने मनोहर सुन्दर बाग-बगीचे, ग्राम और नगर उसने पार किये । कितनी ही सोने और चाँदी की खानें और हरियाली से घिरे पर्वतों की तलहटी में

उसने किसानों के कच्चे-पक्के घर देखे। टेढ़ी-मेढ़ी सर्पाकार स्वच्छ जलों की नदियाँ देखीं। आखिर वह त्यागी बालक एक ऐसे घोर वन में पहुँचा, जिसे मुश्किल से ही कोई साधारण मानव पार कर सकता था। वहाँ हिंस्र पशुओं की भरमार थी। सिंह, बाघ, रीछ, चीते, अजगर, हाथी आदि की घोर गर्जना से वह वन भयावना हो रहा था।

बालक थका हुआ था, भूख और प्यास से व्याकुल हो रहा था। पास ही बहती हुई एक नदी देखकर उसने उसमें स्नान किया और चुल्लू भर-भरकर पानी पिया। इस प्रकार कुछ स्वस्थ्य होकर पास के एक वट की जड़ पर, छाँह में बैठ गया।

उसने ऋषियों से सुना था कि भगवान मन में वास करते हैं। यहाँ एकान्त देख, निश्चित होकर भगवान का ध्यान करने लगा। भक्ति के आँसुओ से बालक की आँखें सजल हो उठीं। वह तन्मय हो भगवान के ध्यान मे लीन हो गया।

यथासमय भक्त वत्सल भगवान उसके हृदय में आविर्भूत हुए। पलक झपकते ही वह रूप लुप्त भी हो गये। बालक इससे व्याकुल हो उठा।

तब वाणी और मन के परे परमेश की वाणी उसे

सुनाई पड़ी, 'भक्त, तुम पाप से परे हो गये हो, इसलिए इस जन्म में इतना ही यथेष्ट है। जो असिद्ध है, जिनकी कामनायें दग्ध नहीं हुई, वे योगी मुझे नहीं देख सकते। तुम मुझमें बहुत अनुरक्त थे इसलिए एक बार दर्शन हुए। अब तुम यह निंदनीय मृत्युलोक छोड़कर, मेरे पार्श्वचर बनो!'

इतना कहकर भगवान अंतर्धान हो गये। नारद चिन्मय स्वरूप प्राप्त कर देश-देशांतरों में भगवद् गुण गाते हुए भ्रमण करने लगे।

भीष्म

महर्षि वशिष्ठ के शाप से आठों वसुओं को मनुष्य योनि में जन्म लेना था। उन्होंने प्रार्थना करके भगवती गंगा को अपनी माता बनने के लिए राजी कर लिया। पुरुवंश में उत्पन्न राजा प्रतीप के पुत्र शांतनु को गगा जी ने अपना पति स्वीकार किया।

किन्तु उन्होंने महाराजा शांतनु से यह वचन ले लिया कि अगर वे उनके किसी कार्य में हस्तक्षेप करेंगे तो वे उन्हें छोड़कर चली जायेंगी। महाराज शांतनु ने यह वचन गगाजी को दिया।

अब जो भी पुत्र उत्पन्न होता, उसे गंगा जी अपनी धारा में बहाकर ले जाती और कहीं डाल आती। राजा शांतनु इसलिए कुछ न कहते कि वचन के अनु-सार वे कहीं चली न जायें। इस प्रकार जब वे सात पुत्रों को जल में डाल चुकीं और आठवां पुत्र हुआ तो राजा शातनु से न रहा गया और वे बोल उठे, 'तुमने मेरे सात पुत्र तो मार ही दिये, अब यह एक बालक

तो मुझे दे दो।'

गंगा जी ने कहा, 'ये बच्चे तो वसु थे। शाप के कारण ही ये मनुष्य योनि में आये थे। मैंने इन्हें फिर से इनके लोक भेज दिया। यह आठवां बच्चा भी वसु है, पर इसी के अपराध के कारण शाप हुआ था। यह दीर्घकाल तक मनुष्य लोक में रहेगा। आपने मेरे कार्य



में बाधा देकर वचन भंग किया है, इसलिए अब मैं जाती हूँ। आपका यह पुत्र बड़ा होने पर आपके पास आ जायेगा।'

इतना कहकर गंगाजी उस बालक को लेकर अंतर्धान हो गई।

कई बरस बीत गये ।

एक दिन राजा शांतनु गंगा के किनारे टहल रहे थे । सहसा उन्होंने देखा कि गंगाजी में बहुत थोड़ा जल रह गया है । इसका कारण जानने के लिये वे आगे बढ़े तो देखा कि एक तेजस्वी बालक दिव्यास्त्रों का अभ्यास कर रहा है । उसने अपने बाणों से गंगा की धारा रोक दी है ।

इसी समय गंगाजी ने प्रगट होकर महाराज शांतनु को बताया कि यही बालक उनका आठवां पुत्र है । तब उस कुमार को राजा शांतनु अपने साथ ले गये और उसका नाम देवव्रत रखा । महर्षि वशिष्ठ से देवव्रत ने सांगोपांग वेदों की शिक्षा पाई थी । दैत्यगुरु शुक्राचार्य तथा देवगुरु बृहस्पति ने उसको राजनीति की शिक्षा दी थी तथा भगवान परशुराम ने उन्हे धनुर्वेद की शिक्षा दी थी ।

महाराज शांतनु एक दिन यमुना तट पर विचरण कर रहे थे । तभी सहसा उनके नासपुटों में मदहोश कर देनेवाली एक सुगंध समा गई । वह सुगंध योजन-गंधा सत्यवती के शरीर की थी । सुगंध की खोज करते हुए राजा सत्यवती के पास तक जा पहुँचे । उसके रूप पर वे मोहित हो गये और उसे अपनी पत्नी बनाने की

इच्छा उन्होंने प्रगट की ।

सत्यवती का पालन-पोषण निषादराज के यहां हुआ था। राजा शातनु ने जब निषादराज से उनकी कन्या मॉगी तब निषादराज ने विनय पूर्वक उनसे कहा, 'राजन्, मैं अपनी कन्या आपको तभी दे सकता हूँ, जब आप यह प्रतिज्ञा करे कि आप के बाद इस कन्या के गर्भ से उत्पन्न पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा ।'

यद्यपि महाराज शांतनु सत्यवती पर आसक्त हो गये थे तथापि अपने विनयी, सुशील और योग्य पुत्र देवव्रत को उसके अधिकार से वंचित करना उन्होंने स्वीकार नहीं किया और वे निरुत्तर वापस लौट आये ।

महाराज शांतनु लौट तो आये, पर उनका चित्त सत्यवती में ही लगा रहा। इस चिंता से वे दुर्बल पड़ने लगे ।

पिता को चिन्तित देख देवव्रत भी चिन्तित हुआ मंत्रियों तथा सेवकों से पूछकर किसी तरह उसने पित की चिन्ता का कारण जान लिया। तब वह बड़े-बू क्षत्रियों को साथ लेकर निषादराज के यहाँ गया औ उसकी कन्या को अपने पिता के लिए माँगा ।

निषादराज ने कहा, 'यह कन्या मेरी नहीं है। यह आप जैसे ही उच्च राजकुल में उत्पन्न हुई है। इसके पिता जब तप करने चले गये तो इसका पालन-पोषण करने के लिए इसे मेरे पास छोड़ गये। उनकी भी इच्छा यही है कि इसका विवाह आपके पिता से हो। किन्तु इस संबंध में एक व्यवधान यह है कि इसके पुत्रों की आपसे प्रतिद्वंदिता हो जायेगी और आपने शत्रुता करके तो देवता भी जीवित नहीं रह सकते।'

'निषादराज, देवव्रत ने दृढ़तापूर्वक कहा, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि इसके गर्भ से उत्पन्न पुत्र ही हमारा राजा होगा।'

पर इतने से ही निषादराज को संतोष न हुआ। उसने कहा, 'राजकुमार, आपकी प्रतिज्ञा तो आप जैसे उत्तमपुरुष के ही योग्य है, किन्तु मुझे भय है कि आपका पुत्र सत्यवती के पुत्र से राज्य छीन लेगा।'

देवव्रत ने कुछ क्षणों तक विचार किया उसके बाद हाथ उठाकर कहा, 'मैंने अपने पिता के लिए राज्य का त्याग तो पहले ही कर दिया है; अब दूसरी प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आज से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा और कभी विवाह न करूँगा।'

इस प्रतिज्ञा के करते ही आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी। इतनी भीषण और कठोर प्रतिज्ञा करने के कारण देवताओं ने देवव्रत का नाम भीष्म रखा।

जब निषादराज की कन्या लाकर भीष्म ने अपने पिता को दी तब शांतनु ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा, 'मेरा निष्पाप पुत्र जब तक जीना चाहेगा, तब तक मृत्यु उसका स्पर्श नहीं कर सकेगी। जब मेरा पुत्र इच्छा करेगा तभी मृत्यु उसे छू सकेगी।'

अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा का भीष्म ने जीवन भर पालन किया और महाभारत के युद्ध में जब वे शरशय्या पर गिर पड़े, शरीर के रोम-रोम में बाण लगे होने पर भी पिता के वरदान के प्रभाव से सूर्य के उत्तरायण होने तक जीवित बने रहे।

सुकर्मा

महर्षि कश्यप के कुल में उत्पन्न ब्राह्मण श्रेष्ठ पिप्पल बड़े ही धर्मात्मा और तपस्वी थे। इंद्रियों का संयम, पवित्रता तथा मन को वश में रखना यह उनका स्वाभाविक गुण हो गया था। दशारण्य में, जहाँ वे तपस्या करते थे, उनके तप के प्रभाव से आस-पास के जंगली पशुओं का बैर-विरोध नष्ट हो गया था। जो प्राणी स्वभाव से एक-दूसरे के शत्रु है, वे भी वहाँ आपस में मिलकर प्रेमपूर्वक रहते थे।

पिप्पल ने इतना भारी तप किया कि उनके शरीर के चारों ओर चींटियों ने, दीमको ने अपनी बाँबियाँ बना लीं और उसकी मिट्टी से उन्हें ढंक दिया। उस मिट्टी के ढेर में से भी पिप्पल के शरीर का तेज इस प्रकार बाहर निकलता था, जैसे अग्नि की लपटे बाहर निकलती हों। पिप्पल की तपस्या से प्रसन्न होकर देवताओं ने उन्हें प्रत्यक्ष-दर्शन दिया और यह वरदान दिया कि सारा जगत् उनके वश मे हो जायेगा। देवताओं के वरदान से पिप्पल विद्याधर हो गये। वे जिस-जिस व्यक्ति का मन से चिंतन करते थे, वही उनके वश में हो जाता था। इस सिद्धि से उन्हें बड़ा गर्व हो

गया। वे अपने को संसार का सबसे बड़ा तपस्वी और सिद्ध मानने लगे। सिद्धि के गर्व ने उनकी भगवत्प्राप्ति के पद को रोक दिया।

उनके इस गर्व को देखकर उन पर कृपा करने के लिये स्वयं ब्रह्माजी सारस का रूप धारण कर वहाँ आये और बोले, "ब्राह्मण, तुम ऐसा अभिमान क्यों कर रहे हो कि जगत् में तुमसे बड़ा कोई नहीं है? यद्यपि तुमने तीन हजार वर्षों तक तप किया है और तुम्हें सबको वश में करने की सिद्धि भी मिली है, फिर भी तुम मूढ़ ही हो। कुण्डल के पुत्र सुकर्मा विद्वान पुरुष हैं। संसार में सुकर्मा के समान महाज्ञानी दूसरा नहीं है। यह ज्ञान उन्होंने कैसे प्राप्त किया, यह तुम स्वयं जाकर देख लो।"

सारस की बात सुनकर पिप्पल बिना विलंब किये कुरुक्षेत्र स्थित विप्रवर कुण्डल के आश्रम की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि बालक सुकर्मा अपने माता-पिता की सेवा में लगा हुआ है। पिप्पल को अपने आश्रम में आये देख कुण्डल कुमार सुकर्मा उठ खड़ा हुआ और उनका विधिपूर्वक अतिथि-सत्कार किया। फिर पिप्पल से बिना पूछे ही उसने बता दिया कि वे सारस के कहने पर वहाँ आये हैं।

उसने आगे बताया कि तपस्या तथा सिद्धि से पिप्पल को जो गर्व हो गया था उसे दूर करने के लिए ही

ब्रह्माजी सारस बनकर उनके पास आये थे। सुकर्मा की बातों को सुनकर भी पिप्पल को सिद्धि का गर्व बना रहा। तब सुकर्मा ने देवताओं का स्मरण किया।

सुकर्मा के स्मरण करते ही इन्द्रादि देवता वहाँ प्रगट हो गये। देवताओं का दर्शन कभी निष्फल नहीं होता, देवताओं के कहने पर सुकर्मा ने उनसे वरदान माँगा, 'माता-पिता के चरणों में मेरी सुस्थिर भक्ति हो मेरे माता-पिता विष्णु-धाम को पधारें।'

देवता वरदान देकर चले गये। पिप्पल को सुकर्मा की शक्ति और ज्ञान का विश्वास हो गया। उन्होंने सविशेष और निर्विशेष तत्व के बारे में पूछा।

सुकर्मा ने दोनों तत्त्वों की विस्तार पूर्वक व्याख्या कर पिप्पल को समझाया।

तब उत्सुक पिप्पल ने उनसे पूछा, "आपकी आयु कम है, आपने कोई तप किया हो, ऐसा भी नहीं दीखता; किंतु आपका प्रभाव तथा ज्ञान अपार है। इसका क्या कारण है?"

सुकर्मा ने बताया, 'ब्राह्मण, मैने यज्ञ-याग, धर्मानुष्ठान, ज्ञानोपार्जन, तीर्थयात्रा आदि कुछ नहीं किया है। कोई दूसरा पुण्यकर्म भी मेरे द्वारा नहीं हुआ है। मैं तो माता-पिता की सेवा ही जानता हूँ। विद्वान

पुरुष यज्ञादि करके जो फल पाते हैं, माता-पिता की सेवा से ही मैंने उसे पा लिया है। जहाँ माता-पिता होते हैं, वहीं पुत्र के लिये गंगा, गया तथा पुष्कर तीर्थ है। जो सत्पुत्र माता-पिता के जीवित रहते उनकी सेवा करता है, उसके ऊपर देवता तथा महर्षिगण प्रसन्न होते हैं। पुत्र के लिए तो बस माता-पिता ही धर्म, तीर्थ, मोक्ष, दान तथा जीवन का सर्वोत्तम फल हैं।"

"यानि माता-पिता की सेवा ही सर्वोपरि है ?" पिप्पल ने जिज्ञासा प्रकट की।

"हाँ। जो अंगहीन, दीन-दुःखी, वृद्ध तथा महारोग से पीड़ित माता-पिता को त्याग देता है। वह दुरात्मा पुत्र कीड़ों से भरे दारुण नरक में पडता है। मेरी सर्वज्ञता और ज्ञान का कारण माता-पिता की सेवा ही है। जो माता-पिता की सेवा नहीं करता, उसे वेदों के सागोपाग अध्ययन से भी क्या लाभ होनेवाला है।"

सुकर्मा ने और भी अनेक उपाख्यान पिप्पल को सुनाये। उनके उपदेशों को सुनकर पिप्पल का गर्व दूर हो गया। अपने पिछले गर्व के कारण वे लज्जित हुये। सुकर्मा की आज्ञा लेकर और श्रद्धापूर्वक उन्हे प्रणाम कर उन्होंने वहाँ से विदा ली।

श्रवण

श्रवणकुमार जाति से वैश्य थे। इनके माता-पिता दोनों अंधे हो गये थे। वे बड़ी सावधानी और श्रद्धा से उनकी सेवा करते थे।

एक बार उनके माता-पिता की इच्छा हुई कि वृद्धावस्था में वे भी तीर्थाटन करें। उन्होंने पुत्र श्रवण कुमार पर अपनी इच्छा प्रगट की। श्रवण साधनहीन निर्धन किशोर था, जैसे-तैसे अपना और अपने माता-पिता की गुजर बसर कर रहा था। फिर भला वह माता-पिता के तीर्थाटन के उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए धन कहाँ से लाये। लेकिन माता-पिता की इच्छा की पूर्ति करना भी उसके लिए आवश्यक था। आखिर उसने एक उपाय सोचा।

उसने एक काँवर बनाई और उसी में एक ओर अपनी माता और दूसरी ओर अपने पिता को बिठाया। फिर काँवर को कंधे पर लाद वह तीर्थाटन को निकल पड़ा।

ब्राह्मण के लिए तो भिक्षा माँगकर जीविका-निर्वाह कर लेने की विधि है, किन्तु दूसरे वर्ण के लोग यदि दरिद्र हों और तीर्थ यात्रा कर रहे हों तो बिना माँगे जो कुछ अपने-आप कोई दे दे, उसी से उसे उदर-पूर्ति करना चाहिए। पर श्रवण कुमार ने किसी से कुछ लेना स्वीकार नहीं किया। वह वन से कंद-मूल-फल आदि ले आता था और उसी से माता-पिता तथा अपना पेट भरता था।

इस प्रकार यात्रा करता हुआ वह अयोध्या के समीप वन में पहुँचा। रात्रि हो चली थी पर काँवर कंधे पर लादे वह वन्य मार्ग से चलता चला जा रहा था। सहसा उसके माता-पिता को प्यास लगी। उन्होंने श्रवण से कहा। श्रवण ने काँवर नीचे उतारकर वहीं रख दिया और तुम्बा लेकर पानी लेने के लिए सरयू नदी के तट पर पहुँचा।

जब तक कोई पूरी सावधानी से धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसे समस्त विपत्तियों से बचा लेता है। लेकिन जब प्रमादवश धर्म की मर्यादा का ध्यान नहीं रखा जाता, तब कोई न कोई भूल अवश्य होती है और उसका विनाशकारी परिणाम भी सामने आता है।

धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि युद्ध को छोड़कर अन्य कहीं भी हाथी को मारना पाप है। दूसरे यह भी मर्यादा है कि बिना पूरा निश्चय किए हुए केवल अनुमान के आधार पर कहीं कोई अस्त्र न चलाया जाये।

महाराज दशरथ उस समय अकेले ही आखेट के लिए निकले थे। उन दिनों अयोध्या के समीप के वनों में जंगली हाथी रहते रहे होंगे। श्रवण कुमार ने जब पानी में अपना तुम्बा डुबाया तब उससे जो आवाज हुई, उसे सुनकर महाराज दशरथ ने समझा कि कोई हाथी जल पी रहा है। उन्होंने शब्दवेधी बाण छोड़ दिया।

एक तो केवल अनुमान के आधार पर बाण चलाया गया। दूसरे, हाथी समझकर भी बाण नहीं चलाना था, क्योंकि आखेट में हाथी मारना वर्जित है।

बाण आकर श्रवण कुमार की छाती में धँस गया और वह वहीं चीख मारकर गिर पड़ा तथा कराहता हुआ तड़पने लगा।

किसी मानव की चीख सुनकर महाराज दशरथ चौंके और तेजी से उस ओर भागे। वहाँ पहुँचकर पाया कि एक वल्कल धारी निर्दोष बालक भूमि पर पड़ा तड़प रहा है। उसकी जटायें खुलकर बिखर गई

है, हाथ के पात्र का जल गिर गया है तथा उसका शरीर धूल और रक्त से लथपथ हो रहा है।

रात्रि के उस धुधलके में भी श्रवण कुमार ने महाराज दशरथ को पहचान लिया और कहा, "राजन्, मैंने तो कभी आपका कोई अपराध नहीं किया था, फिर आपने मुझे क्यों मारा ? मेरे माता-पिता दुर्बल तथा अंधे हैं। उनके लिए मै यहाँ जल लेने आया था। वे मेरी प्रतीक्षा करते होगे। उन्हे क्या पता कि मै यहाँ इस प्रकार पड़ा हूँ। पता लग जाये तो जाने उनका क्या दशा हो। मुझे अपनी मृत्यु का कोई दुःख नही, किन्तु मुझे अपने माता-पिता के लिए बहुत दुःख है। आप उन्हें जाकर यह समाचार सुना दें और जल पिलाकर उनकी प्यास बुझा दें।"

महाराज दशरथ शोक से व्याकुल हो रहे थे। श्रवण ने उन्हे अपने माता-पिता का पता तथा वहाँ पहुँचने का मार्ग बताकर आश्वासन दिया, "आपको ब्रह्महत्या नहीं लगेगी राजन् ! मैं ब्राह्मण नही, वैश्य हूँ। पर मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। आप अपना यह बाण मेरी छाती से निकाल दें।"

बाण के निकाल लेने पर अपार पीड़ा से तड़प-कर एवं काँपकर श्रवण के प्राण ने उसका शरीर छोड़

दिया । अब महाराज दशरथ पश्चाताप करते हुए जल के पात्र को सरयू नदी के जल से भरकर श्रवण के माता-पिता के पास पहुँचे । वहाँ पहुँचकर अत्यंत दुःख प्रगट करते हुए अवरुद्ध कंठ से उन्होंने अपने अपराध का वर्णन किया ।

पुत्र की मृत्यु की बात सुनकर वे अंधे वृद्ध दंपत्ति अत्यंत व्याकुल हो गये । उन्होंने विलाप करते हुए महाराज से कहा, "आप हमें अपने पुत्र के मृत शरीर के पास पहुँचा दें ।" महाराज दशरथ ने कंधे पर काँवर उठाया और उन्हें वहाँ पहुँचा दिया ।

उसी समय महाराज ने देखा कि मुनिकुमार श्रवण माता-पिता की सेवा के फल से दिव्य रूप धारण करके विमान पर बैठकर स्वर्ग को जा रहे है । उसने आश्वासन देते हुए अपने माता-पिता से कहा, "आप दोनों की सेवा से ही मैंने यह उत्तम गति प्राप्त की है । आप मेरे लिये शोक न करें । आप लोग भी शीघ्र ही मेरे पास आ जायेंगे ।"

इसके पश्चात् महाराज के सहयोग से उन दोनों ने सूखी लकड़ियाँ एकत्र कर उस पर श्रवण का मृत देह रखवाया । सरयू जी में स्नान कर अपने पुत्र को जलांजलि दी और फिर उसी चिता में गिरकर अपना

शरीर छोड़ दिया। दुःख के आवेग में उन्होंने मृत्यु से पूर्व महाराज दशरथ को शाप दिया, "जैसे पुत्र के वियोग में हम दोनों मर रहे है, वैसे ही तुम्हारा शरीर भी पुत्र के वियोग में ही छूटेगा।"

श्रवण के माता-पिता भी अपने पुत्र के पुण्य के प्रभाव से उत्तम लोक को प्राप्त हुए। इस प्रकार श्रवण ने माता-पिता की सेवा करके उस धर्म के प्रभाव से अपना तथा माता-पिता का भी उद्धार कर दिया।

कहना न होगा कि बाद में श्रवण के माता-पिता का शाप सच निकला। और रामचंद्रजी के वनगमन के बाद दशरथ ने 'हा राम, हा राम' करते अपने प्राण त्यागे।

पिप्पलाद

वृत्रासुर ने स्वर्ग पर अधिकार कर लिया था। इन्द्र अन्य देवताओं के साथ स्वर्ग छोड़कर भाग गये थे। देवताओं के कोई भी अस्त्र-शस्त्र वृत्रासुर को नहीं मार सकते थे। अंत में इन्द्र ने तपस्या तथा प्रार्थना कर भगवान को प्रसन्न किया। भगवान ने बताया कि दधीचि की हड्डियों से विश्वकर्मा वज्र बनाये तो उससे वृत्रासुर मर सकता है।

महर्षि दधीचि बड़े भारी तपस्वी थे। उनकी तपस्या के प्रभाव से उनकी आज्ञा सभी जीव-जंतु तथा वृक्ष तक मानते थे। उन तेजस्वी ऋषि को देवता मार तो सकते नहीं थे, अतः उन्होंने जाकर उनसे उनकी हड्डियाँ माँगी।

महर्षि दधीचि ने कहा, "यह शरीर तो एक दिन नष्ट ही होगा। मरना तो सबको पड़ेगा ही। किसी का उपकार करके मृत्यु हो, शरीर किसी की भलाई में लग जाये, इससे अच्छी भला और क्या बात होगी मैं

योग से अपना शरीर छोड़ देता हूँ। आप लोग हड्डियाँ ले लें।"

महर्षि दधीचि ने योग से शरीर छोड़ दिया। वे मरकर मुक्त हो गये। उनके शरीर की हड्डियों से विश्वकर्मा ने वज्र बनाया। उस वज्र से इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा। देवताओं को स्वर्ग वापस मिल गया।

महर्षि दधीचि की पत्नी का नाम प्रातिथेयी था। उनके एक पुत्र भी था। वह भी बड़ा तपस्वी था। वह केवल पीपल का फल खाकर रहता था, इससे उसका नाम पिप्पलाद पड़ गया था। पिप्पलाद ने जब सुना कि देवताओं ने उसके पिता से उनकी हड्डियाँ माँगी और देवताओं को हड्डियाँ देने के कारण उसके पिता मरे तो पिप्पलाद को बड़ा क्रोध आया। उसने देवताओं से बदला लेने का विचार किया।

पिप्पलाद देवताओं से बदला लेने के लिये भगवान शंकर की उपासना और तपस्या करने लगा। उसने बहुत समय तक तपस्या की और तब शंकर जी उस पर प्रसन्न होकर प्रगट हुये। उन्होंने उससे वरदान माँगने को कहा। पिप्पलाद ने कहा "आप मुझे ऐसी शक्ति दीजिए कि मैं अपने पिता के मारने वालों को नष्ट कर दूँ।"

शंकर जी ने एक बड़ी भयानक राक्षसी उत्पन्न करके पिप्पलाद को दे दी। राक्षसी ने पिप्पलाद से पूछा, "आप आज्ञा दें, मैं क्या करूँ ?"

पिप्पलाद ने कहा, 'तुम सब देवताओं को खा लो।'

वह राक्षसी अपना बडा भारी मुख फाड़ कर पिप्पलाद को ही खाने दौड़ी। डरकर पिप्पलाद ने पूछा, "तू मुझे क्यों खाने आती है ?"

राक्षसी बोली, "सब जीवों के अंगों में उन अंगों के देवता रहते है। जैसे नेत्रों में सूर्य, हाथों में इन्द्र, जीभ में वरुण। इसी प्रकार दूसरे देवता भी दूसरे अंगों में रहते है। स्वर्ग के देवता तो दूर है, पहले जो लोग मेरे पास हैं, उन्हें तो खा लूँ। मेरे सबसे पास तो तुम्हीं हो।"

पिप्पलाद बहुत डरा और भगवान शंकर की शरण में गया। शंकर जी ने पिप्पलाद से कहा, "बेटा, क्रोध बहुत बुरा होता है। क्रोध के वश में होने से बहुत पाप होते है। देखो, मैं यदि इस राक्षसी को तुम्हें खाने से रोक भी दूँ, तो यह सब दूसरे जीवों को खा जायेगी। तुम्हें ही सारे संसार को मारने का पाप लगेगा। मान लो कि यह स्वर्ग के सारे देवताओं को ही मार डाले तब भी सारे संसार का नाश हो जायेगा

आँखों के देवता सूर्य हैं। सूर्य न रहेंगे तो सब अंधे ह
जायेंगे। हाथ के देवता इन्द्र है। इन्द्र न रहेंगे तो स
लूले हो जायेंगे। इसी प्रकार जिस अंग के जो देवत
हैं, उस देवता की शक्ति से ही जीवों के वे अंग का
करते हैं। देवता न रहेंगे तो तुम्हारा भी कोई उ



काम न करेगा। इसलिये तुम देवताओं पर क्रोध
करो। देवताओं ने तुम्हारे पिता से उनकी हड्डि
भिक्षा में मांगी थीं। तुम्हारे पिता इतने बड़े दानी
उपकारी थे कि उन्होंने अपनी हड्डियाँ भी दे
तुम इतने बड़े महात्मा के पुत्र हो। अपने पि

सामने भिखारी बनने वालों पर तुम्हें क्रोध नहीं करना करना चाहिये।"

भगवान शंकर का उपदेश सुनकर पिप्पलाद का क्रोध शान्त हो गया। उसने कहा, "भगवान, आपकी आज्ञा मानकर मैं देवताओ को क्षमा करता हूँ।"

इतना कहते ही राक्षसी भी गायब हो गई।

पिप्पलाद की क्षमा से शंकर जी ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया कि वह जहाँ तपस्या करता था, वह स्थान पिप्पल तीर्थ हो जायेगा और उस तीर्थ में स्नान करने वाले समस्त पापों से मुक्त होकर भगवान के धाम को जायेंगे।

पिप्पलाद की इच्छा अपने पिता महर्षि दधीचि का दर्शन करने की थी। देवताओं की प्रार्थना से ऋषियों के लोक से महर्षि दधीचि और पिप्पलाद की माता प्रातिथेयी विमान में बैठकर वहाँ आये और उन्होंने पिप्पलाद को आशीर्वाद दिया।

बालक पिप्पलाद आगे चलकर बहुत बड़े विद्वान और ब्रह्मर्षि हुये। इसका वर्णन प्रश्नोपनिषद् और शिवपुराण में भी आता है।